विवेक
ज्योति
रामकृष्ण मिशन

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर

* १९८६ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर—४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(७५ वीं तालिका)

(३० जून १९८६ तक)

२६३२. श्री रामेश्वरसिंह ठेकेदार, जशपुरनगर (रायगढ़)।
२६३३. श्री दिनकर सिंह, संजय निकुंज, जशपुरनगर।
२६३४. श्रीमती मंजु बैनर्जी, जशपुरनगर।
२६३५. श्री महेन्द्र लालजी, समैया मार्केट, सागर (म.प्र.)
२६३६. प्रधान पाठक, पूर्व मा. शाला, मुड़ीपार (राजनाँदगाँव)।
२६३७. प्रधान पाठक, पूर्व मा. शाला, टोलागाँव (राजनाँदगाँव)।
२६३८. प्रधान पाठक, पूर्व मा. शाला, विचारपुर (राजनाँदगाँव)
२६३९. श्री नारायणप्रसाद शर्मा, पांडे रेडियो हाउस, कवर्धा।
२६४०. प्रधान पाठक, पूर्व मा. शाला, मड़मड़ा (राजनाँदगाँव)।
२६४१. सुश्री माला सिंह, द्वारा श्री जे.पी. सिंह, कवर्धा।
२६४२. पं. आदित्य किरण चतुर्वेदी, कुम्हारी, कोहरौद (रायपुर)।
२६४३. श्री रोहित कुमार श्रीवास, जावलपुर (बिलासपुर)।
२६४४. श्री आर. एल. बाठवाल, कलकत्ता।
२६४५. न्यायमूर्ति श्री जितेन्द्रवीर गुप्ता, चण्डीगढ़।
२६४६. श्री रवीन्द्र व्यास, २७७, इंद्रपुरी, इन्दौर।
२६४७. श्री संजय जे. राउत, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)।
२६४८. श्री रामदास गोयल, शंकरनगर, रायपुर।
२६४९. सुश्री अल्का कुमारी, मालवीय नगर, नईदिल्ली।
२६५०. श्री अश्विनी कुमार, २७, कर्जन रोड, देहरादून (उ.प्र.)।
२६५१. श्री प्रकाश नारायण सक्सेना, पेण्ड्रा (बिलासपुर)।
२६५२. श्री सन्तराम जायसवाल, अमरकंटक (शहडोल)।
२६५३. श्री भगवद्-धाम (राममंदिर), विरार पश्चिम (महाराष्ट्र)।

ग्राहकों को विशेष सूचना

(१) जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा इस चतुर्थ अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपने चन्दे का १०) संलग्न मनिआर्डर फार्म द्वारा भिजवा दें। आप में से जिनका संपूर्ण चंदा जमा नहीं है, वे भी कृपया सलग्न मनीआर्डर फार्म में दर्शायी बकाया राशि भेजकर वर्ष की अपनी समस्त प्रतियाँ सुरक्षित करवा लें।

(२) ग्राहकों से निवेदन है कि वे मनिआर्डर के कूपन में भी अपना नाम और पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। पुराने ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या का भी अवश्य उल्लेख करें तथा नये ग्राहक लिख दें—"नया ग्राहक"। यदि पुराने ग्राहकों को अपनी ग्राहक-संख्या का स्मरण न हो, तो वे कृपया लिखें—"पुराना ग्राहक"।

(३) **स्मरणीय है कि हमने अपने पिछले अंक में सूचित किया था कि कागज, छपाई और डाकखर्च की दरों में असाधारण वृद्धि हो जाने से तथा सरकार से रियायती दर पर कागज का मिलना बन्द हो जाने के कारण हमें 'विवेक-ज्योति' का वार्षिक शुल्क १ जनवरी १९८७ से ८) से बढ़ाकर १०) करना पड़ रहा है। इसी प्रकार एक फुटकर अंक का दाम २।।) से बढ़ाकर ३) रखा जा रहा है।**

(४) जिन ग्राहकों को प्रायः डाक की अव्यवस्था के कारण पत्रिका के न मिलने की शिकायत रहती है, उनसे अनुरोध है कि वे यदि प्रति अंक १)९० का अतिरिक्त व्यय वहन करके पत्रिका वी.पी. से मँगवाएँ, तो सभी अंक उन्हें सुरक्षित मिल जाएँगे। ग्राहकों पर यह अतिरिक्त व्यय-भार पड़ने का हमें दुःख है, पर पत्रिका की सुरक्षित प्राप्ति का यही सरल उपाय है। आशा है आप हमें इसमें सहयोग देंगे। जिन ग्राहकों को हमारा यह सुझाव मान्य है, वे कृपया हमें इसकी सूचना दें।

(५) **पत्र लिखते समय अपनी ग्राहक-संख्या तथा अपने नाम एवं पूरे पते का स्पष्ट रूप से अवश्य उल्लेख करें।**

व्यवस्थापक,
'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द** (अमेरिका में)

मुद्रण स्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २४] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर ★ १९८६ ★ [अंक ४

शान्ति का उपाय

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया ।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।।
व्रजन्तः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः ।
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ।।

—विषयों को हम चाहे जितने दिनों तक क्यों न भोगें, एक दिन वे निश्चय ही हमसे अलग हो जाएँगे । तब फिर मनुष्य स्वयं अपनी इच्छा से ही इन्हें क्यों न छोड़ दे ? जब वे खुद होकर मनुष्य को छोड़ेंगे, तब उसे बड़ा दुःख और मनःक्लेश होगा । अगर मनुष्य उन्हें स्वयं छोड़ देगा, तो उसे अनन्त सुख और शान्ति प्राप्त होगी ।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्', १२

अग्नि-मंत्र

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

अलामेडा, कैलिफोर्निया
१८ अप्रैल, १९००

प्रिय 'जो',

अभी मुझे तुम्हारा और श्रीमती बुल का आनन्द-दायक पत्र मिला। मैं इसे लन्दन भेज रहा हूँ। यह जानकर कि श्रीमती लेगेट की तबीयत ठीक हो रही है, मुझे अति हर्ष हुआ।

मुझे बड़ा दुःख है कि श्री लेगेट ने सभापति के पद का त्याग कर दिया है। अच्छा, कहीं मैं और झगड़ा न बढ़ा दूं, इससे डरकर मैं चुप हूँ। तुम जानती हो कि मेरा तरीका बडा कठोर होता है और एक बार उत्तेजित होने से कदाचित् 'अ' को मैं बहुत कुछ कह जाऊँ, जो वह सहन न कर सके।

मैंने उन्हें केवल यह बतलाने को लिखा कि श्रीमती बुल के सम्बन्ध में उनके विचार सर्वथा अन्यायपूर्ण हैं।

कर्म करना हमेशा कठिन होता है। 'जो'! मेरे लिए प्रार्थना करो कि मेरा काम सदा के लिए बन्द हो जाय और मेरे प्राण 'माँ' में लीन हो जायँ। अपना काम 'माँ' ही जानती हैं।

एक बार पुनः लन्दन आकर तुम आनन्दित होगी—वे पुराने मित्र—उन सबको मेरी कृतज्ञता और प्रेम कहना।

मैं स्वस्थ हूँ, मन से अत्यन्त स्वस्थ हूँ। मैं शारीरिक विश्राम की अपेक्षा आत्म-विश्राम का अधिक अनुभव करता हूँ। संग्राम में जय-पराजय होती है। मैंने अपनी

गठरी बना ली है और महा मुक्तिदाता की बाट जोह रहा हूँ ।

'शिव, हे शिव, मेरी नैया को पार लगा दे।'

'जो'! यह न भूलना कि मैं वही बालक हूँ, जो निमग्न और विस्मित भाव से दक्षिणेश्वर में पंचवटी के नीच बैठकर श्रीरामकृष्ण के अद्भुत वचनों को सुनता था। यही मेरा सच्चा स्वभाव है; कर्म, उद्योग, परोपकार आदि ये सब ऊपरी बातें हैं। अब मैं फिर उनकी मधुर वाणी सुन रहा हूँ—वही चिरपरिचित कण्ठस्वर जो मेरे अन्तःकरण को रोमांचित कर देता था। बन्धन टूट रहे हैं—प्रेम का दीपक बुझ रहा है। कर्म रसहीन हो रहा है। जीवन के प्रति आकर्षण भी मन से दूर हो गया है! अब केवल गुरु की मधुर गम्भीर पुकार ही सुनाई पड़ रही है—'मैं आया,—प्रभु, मैं आया।' वे कह रहे हैं, 'मृत को स्वयं ही दफनाने दो और तुम मेरे अनुगामी बनो।' 'मैं आता हूँ, मेरे प्राण-वल्लभ! मैं आता हूँ।'

हाँ, मैं आता हूँ। निर्वाण मेरे सामने है। उस शान्ति के अनन्त सागर का, जहाँ पानी की एक भी हिलोर नहीं है, न हवा की एक साँस—मैं कभी-कभी उसका अनुभव करता हूँ।

मुझे हर्ष है कि मैंने जन्म लिया, हर्ष है कि मैंने कष्ट उठाया, हर्ष है कि मैंने बड़ी-बड़ी भूलें कीं, और हर्ष है कि निर्वाणरूपी शान्ति-सागर में विलीन होने जा रहा हूँ। खुद के लिए मैं किसी को बन्धन में छोड़कर नहीं जा रहा हूँ, न मैं कोई बन्धन ले जा रहा हूँ। चाहे इस शरीर की मृत्यु से मुझे मुक्ति मिले, या

शरीर के रहते हुए मुक्त हो जाऊँ, वह पहला मनुष्य चला गया, सदा के लिए चला गया और कभी वापस नहीं आएगा।

शिक्षादाता, गुरु, नेता, आचार्य विवेकानन्द चला गया—है केवल वही बालक, प्रभु का चिरशिष्य, चिरपदाश्रित दास।

तुम समझती हो कि मैं 'अ' के कार्य में हस्तक्षेप क्यों नहीं करना चाहता ? 'जो', मैं कौन हूँ किसी के काम में हस्तक्षेप करनेवाला ? मैंने नेता का अपना स्थान बहुत दिनों से त्याग दिया—मुझे अब बोलने का अधिकार नहीं है। इस वर्ष के आरम्भ से मैंने भारत में कोई आदेश नहीं दिया। तुम यह जानती हो। तुमने और श्रीमती बुल ने अब तक मेरे लिए जो कुछ किया, उसके लिए बहुत बहुत धन्यवाद। तुम लोगों का सर्वांगीण कल्याण हो। उनके इच्छा-प्रवाह में मैं जब बह रहा था, मेरे जीवन के वे ही सबसे मधुर क्षण थे। मैं फिर बह रहा हूँ—ऊपर उज्ज्वल और उष्ण सूर्य है और चारों ओर वनस्पति की बहुलता—गर्मी में सब चीजें निस्तब्ध और शान्त हैं—अलसायी हुई गति से नदी के उष्ण हृदय-पट पर मैं बह रहा हूँ। यह अद्भुत निस्तब्धता, ऐसी निस्तब्धता जिससे विश्वास होता है कि यह भ्रम है—यह निस्तब्धता नष्ट न हो जाय, इस डर से मैं हाथ-पैर नहीं चलाता।

मेरे कार्य के पीछे महत्त्वाकांक्षा थी, प्रेम के पीछे व्यक्तित्व, पवित्रता के पीछे भय और मेरे पथ-प्रदर्शन के पीछे शक्ति की लालसा। वे अब लुप्त हो रहे हैं और मैं बह रहा हूँ। मैं आ रहा हूँ। माँ, मैं तुम्हारी

स्नेहमयी गोद में आ रहा हूँ, जहाँ तुम ले जाओगी वहीं बहता हुआ मैं आता हूँ; उस शब्दहीन अपरिचित और अद्‌भुत देश में; नाटक का पात्र होकर नहीं-- दर्शक बनकर आ रहा हूँ।

अहा ! कितनी शान्ति है ! हृदय के अन्तःस्थल में मेरे विचार दूर से, बड़ी दूर से आते हुए मालूम होते हैं । वे निस्तेज, दूर के, धीमे स्वर में बोले हुए शब्द के समान जान पड़ते हैं और सब चीजों पर शान्ति छायी हुई है, मधुर, मधुमयी शान्ति—जैसे सोने से पहले दो-चार क्षण के लिए अनुभव होता है, जब सब चीजें दिखती हैं, पर छायामात्र विदित होती हैं—बिना डर के, बिना प्रेम के, और बिना भावना के। शान्ति, जो चित्र और मूर्तियों से घिरे हुए, अकेले में अनुभव होती है।--मैं आया, प्रभु, मैं आया।

बस यह संसार है--न सुन्दर, न भद्दा—भावहीन इन्द्रियजनित ज्ञान के समान। अरी 'जो', उस परमानन्द को कैसे कहूँ ! सब वस्तुएँ सुन्दर और शिव हैं, सब वस्तुएँ मेरे लिए अपना व्यावहारिक सम्बन्ध खो रही हैं--जिनमें प्रथम मेरा शरीर है। ॐ तत् सत् !

मुझे आशा है कि लन्दन और पेरिस में तुम सबके लिए बड़ी-बड़ी बातें होंगी। नये आनन्द—मन और शरीर के नये लाभ।

तुम्हें और श्रीमती बुल को सदा की भाँति मेरा अनन्य स्नेह।

तुम्हारा शुभचिन्तक,
विवेकानन्द

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

चौदहवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के वरिष्ठ महा-उपाध्यक्ष हैं । उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी । उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है । इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं । हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं ।—स०)

स्वामीजी (विवेकानन्द) का यंत्ररूप में गठन

श्रीरामकृष्ण सिंथि के ब्राह्मसमाज में सम्मिलित ब्राह्मभक्तों के समक्ष भगवच्चर्चा कर रहे हैं । वे अक्सर कहा करते, "ज्ञानपथ बड़ा कठिन है ।" पर कभी-कभी हमने इसका व्यतिक्रम भी देखा है । उदाहरणार्थ, स्वामीजी को उन्होंने ज्ञानपथ का उपदेश दिया था । जिस प्रकार उनसे शक्ति को मनवा लिया था, उसी प्रकार उन्हें 'सभी ब्रह्म है' यह उपदेश भी दिया था । यह बात अलग है कि स्वामीजी ने वह बात स्वीकार नहीं की थी । उन्होंने उपहास करते हुए कहा था, "लोटा ब्रह्म है, कटोरी ब्रह्म है !" ठाकुर थोड़ा मुसकराकर बोले थे, "बाद में समझेगा ।" और सचमुच स्वामीजी के जीवन में बाद में कुछ ऐसा हो गया कि वे सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने लगे । वर्णन आता है कि उनकी माँ उन्हें खाना परोस रही थीं । नरेन्द्र क्या देखते हैं कि

भात, थाली, कटोरी सब ब्रह्म है । उन्हें सचमुच ऐसी अनुभूति हुई कि वे सर्वत्र ही ब्रह्मदर्शन करने लगे। उसके पश्चात् वे ठाकुर की बातों का प्रतिवाद नहीं कर पाते थे । हमने देखा है कि पहले यदि कोई विपरीत मत का भी पोषण करता, तो ठाकुर बाधा नहीं देते थे । इसीलिए नरेन्द्र ने जब 'माँ' (काली-माँ) को नहीं मानना चाहा, तो उन्होंने कोई आग्रह नहीं किया। बाद में जब नरेन्द्र ने 'माँ' को मान लिया, तब ठाकुर कितना आनन्दित हुए। कारण यह था कि नरेन्द्रनाथ को उन्होंने विशेष रूप से अपने एक पूर्ण यंत्र के रूप में, आचार्य के रूप में तैयार किया था, जिनसे विभिन्न मनोवृत्ति के लोग शिक्षा लेंगे । तभी तो उनको विभिन्न भावों की शिक्षा देने के लिए ठाकुर की इतनी चेष्टा थी। कहा जा सकता है कि एक छटाँक पानी से अगर प्यास बुझ जाय, तो समुद्र में कितना पानी है यह जानने की क्या आवश्यकता है ? यह बात साधारण लोगों के लिए ठीक हो सकती है, पर नरेन्द्र को तो ठाकुर ने उस साधारण कोटि में रखा नहीं । इन सब आपात-विरोधी सिद्धान्तों में नरेन्द्र को निष्णात करके उन्होंने उन्हें एक अपूर्व यंत्र के रूप में परिणत किया था, जहाँ से धर्म-समन्वय का सन्देश दिग्दिगान्तर में फैल गया था ।

ठाकुर की अहंकारशून्यता

इसके पश्चात् ठाकुर कहते हैं कि वेदों में जो सप्तभूमि की बात है, वह मन की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है । अनुभव से समझना होता है, युक्ति-तर्क के द्वारा समझ में नहीं आता। सप्तम भूमि पर मन के

पहुँच जाने पर फिर शरीर की कोई क्रिया सम्भव नहीं होती । ठाकुर के जीवन में हम देखते हैं कि जब उनका मन इस सप्तम भूमि से नीचे नहीं उतरना चाह रहा था, तब दैवयोग से एक व्यक्ति उनके जीवन में आया, जो उनके मन को बलपूर्वक नीचे खींच, किसी प्रकार उनको कुछ खिला आता था । इस अवस्था में वे लगभग छः महीने तक रहे। यह सही है कि साधारण लोगों के लिए इस अवस्था में अधिक दिन रहना सम्भव नहीं होता । हमारा शरीर यदि चैतन्य से अधिष्ठित न हो, तो उसके द्वारा कोई कार्य नहीं होता। यदि ऐसा है, तो फिर आचार्यों की अवस्था क्या है ? ठाकुर कह रहे हैं कि उनमें एक 'विद्या का अहं' रहता है । शंकराचार्य आदि में थोड़ा 'विद्या का अहं' था, इसीलिए उनके द्वारा प्रचार-कार्य सम्भव हुआ था । लेकिन अपने स्वयं के सम्बन्ध में बतलाते हुए ठाकुर कह रहे हैं कि "इसके भीतर 'मैं' बिलकुल नहीं है, केवल 'वे' हैं ।" यह बहुत आश्चर्य की बात है । "मेरे थोड़ा सा अहंकार है" यह बात उन्होंने नहीं कही । कहते हैं, "इसके भीतर और कुछ नहीं है, 'मैं' नहीं है, यहाँ 'वे' हैं"--अर्थात् इस शरीर के प्रति उनकी अहं-बुद्धि नहीं है। उनका भाव है--उनका शरीर एक यंत्र के समान है, जिसे जगन्माता नियंत्रित करती हैं, चलाती हैं; प्रतिक्षण इस शरीर से जो भी क्रिया हो रही है, वह उन्हीं (जगन्माता) के द्वारा निष्पन्न हो रही है। यह जो देहाभिमानशून्यता है तथा स्वयं को जगन्माता के यन्त्ररूप में देखना है, यह केवल अवतार-पुरुष के लिए ही सम्भव है ।

वेदोक्त सप्तभूमि

यहाँ जो सप्तभूमि की बात कही गयी, वह है मन के विभिन्न स्तर; जैसे क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र आदि। पहले मन की अवस्था पागलों-जैसी होती है। पागल वह है, जो वस्तु को एकदम उल्टा देखता है, सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य देखता है। यह हुई 'क्षिप्त अवस्था'। 'मूढ़ अवस्था' में बुद्धि काम नहीं करती। इसके पश्चात् है 'विक्षिप्त अवस्था', इसमें मन की गति कभी सत्य की ओर होती है तो कभी मिथ्या की ओर; सामान्य दृष्टि से कहा जा सकता है कि कभी भगवान् की ओर तो कभी संसार की ओर। इसके बाद है 'एकाग्र अवस्था', इसमें मन को विषयों से समेटकर ध्येय वस्तु से जोड़ दिया जाता है। इससे कुछ ऊँची अवस्था का नाम है 'निरोध अवस्था', इसमें इन्द्रियवृत्तियाँ पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाती हैं। उसके बाद है 'स्वतः व्युत्थान', जो समाधि की अवस्था है; लेकिन इस अवस्था में भी मन में संस्कार का लेश रहने के कारण वह स्वयं ही समाधि से उतर आता है। इसके बाद और कुछ आगे जाने पर जो अवस्था होती है, उसका नाम है 'परतः व्युत्थान', इसमें मन नीचे नहीं उतरना चाहता, केवल कोई दूसरा व्यक्ति ही चेष्टा करके उसे उतार सकता है। इस प्रकार विभिन्न भूमियों के साथ ठाकुर का परिचय हुआ है और वे हैं जगन्माता के एक अपूर्व यंत्र।

इसके पश्चात् कह रहे हैं, "ब्रह्मज्ञानी की यह अवस्था बड़ी कठिन है। तुम लोगों के लिए भक्तिपथ बहुत अच्छा और सहज है।" यह बात उन्होंने क्यों

कही, यह समझना कठिन है । लगता है इसलिए कही कि इस प्रकार व्यक्तित्व के लोप की अवस्था शायद सब लोग पसन्द नहीं करेंगे। ब्रह्म का अनुसरण करने-वाला ब्रह्मज्ञानी जो ब्रह्म की अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है, वह भी अपनी अवश्यम्भावी मृत्यु की बात सोचकर शायद डर जायगा । इसीलिए कह रहे हैं, "तुम लोगों के लिए भक्तिपथ बहुत अच्छा और सहज है ।" अच्छा किसलिए है ? इसलिए कि बहुत से लोगों के लिए इस पथ का अनुसरण करना सम्भव है । सामान्यजनों के लिए ज्ञानी के समान स्वयं के 'मैं' को एकदम विलीन कर देना सहज नहीं है ।

मथुर और उनकी भावावस्था

कामना का लेशमात्र रहने से समाधि तो दूर की बात है, किसी भी उच्च भावभूमि में रह पाना सम्भव नहीं है। जैसा कि मथुरबाबू के साथ हुआ था। मथुर-बाबू ने भाव के लिए ठाकुर से प्रार्थना की थी । ठाकुर ने कहा था, "वह माँ की इच्छा होने से होगा ।" बाद में जब सचमुच ही मथुरबाबू को भाव हुआ, तब वे इतना अधीर हो उठे कि ठाकुर से बोले, "बाबा, तुम अपना भाव वापस ले लो, इस भाव की चपेट में मेरी सारी सम्पत्ति नष्ट हो जा रही है, मैं किसी ओर मन नहीं लगा पा रहा हूँ ।" सामान्य रूप से तनिक से भाव के उन्मेष से ही जब यह अवस्था हो गयी, तब कहीं यदि भाव ऐसे वेग से आये कि सारा मन ही लीन हो जाए, तब तो वह मनुष्य के लिए नितान्त असह्य बात हो जाएगी । इसीलिए कहा है—'योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः'—योगीजन भी इस अभयस्वरूप को

देखकर भय से संत्रस्त हो उठते हैं।

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं—"न प्रेत्य संज्ञास्ति"—'इसके उपरान्त यह अवस्था पार कर जाने पर कोई संज्ञा नहीं रह जाती।' संज्ञा कहने का अभिप्राय लिया है ज्ञान, तथा ज्ञान माने 'मैं' 'तुम' यह सब संसार का ज्ञान। यह सब लुप्त हो जाएगा, यह सुन मैत्रेयी घबरा गयीं, बोलीं, "यह अवस्था लेकर मैं क्या करूँगी; यह तो मुझे अच्छी नहीं लगती।" तब याज्ञवल्क्य ने समझाया, "संज्ञा का अर्थ यह नहीं कि वहाँ पहुँचकर तुम्हारी सत्ता ही लुप्त हो जाएगी। संज्ञा माने सांसारिक विषयों का ज्ञान,—उस सबका लोप हो जायगा।" उनके समझाने पर सम्भव है कि मैत्रेयी का भय दूर हो गया हो, लेकिन साधारण मनुष्य का यह भय कभी नहीं जाता। वह यदि सोचे कि उसका अहंभाव एकदम लुप्त हो जाएगा, तो भले ही वह अवस्था साधकों के लिए अत्यन्त काम्य हो, पर सामान्य मनुष्य उसे कभी नहीं चाहेगा। वह कहेगा—"जरूरत नहीं उस प्रकार की अवस्था की, मैं जैसा हूँ वैसा ही ठीक हूँ।" साधारण मन की ऐसी ही अवस्था होती है। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं, "तुम लोगों का भक्तिपथ बहुत अच्छा और सहज है।" कहते हैं, "मुझसे एक व्यक्ति ने कहा था—महाशय, क्या आप मुझे समाधि सिखा सकते हैं?" सुनकर सब हँसते हैं। 'समाधि' का नाम सुनकर मनुष्य को एक प्रकार का आकर्षण होता है। सोचता है कि सीखकर यदि समाधि-सुख का थोड़ा मजा ले लिया जाय तो क्या बुरा है? पाँच रुपए में समाधिवाली बात मैं कई बार कह चुका

हूँ । एक व्यक्ति नियमित रूप से समाधि बेचता था । दाम था पाँच रुपए । एक साथ अनेक लोगों को बैठाकर वह उनसे कहता---इस प्रकार से सोचो। उसके बाद सम्मोहन विद्या का प्रयोग कर वह उन लोगों को ऐसी अवस्था में पहुँचा देता, जिससे उन्हें लगता कि समाधि हो गयी । और यह समाधि बड़ी सुलभ थी । दाम था केवल पाँच रुपया । तभी तो एक ने ठाकुर से पूछा था, "महाशय, समाधि सिखा सकते हैं ?"

ईश्वरीय भाव और अनुभूति

हम लोग जिस प्रकार से भगवान् का लीला-कीर्तन करते हैं, उनको लेकर लीलाविलास की बात कहते हैं, मनुष्य जब उनमें एकदम लीन हो जाता है, तब उन्हें लेकर वैसा लीलाविलास फिर सम्भव नहीं हो पाता । इसीलिए ठाकुर ने कहा था, "ईश्वर की ओर जितना बढ़ोगे, कर्मों का आडम्बर उतना ही कम हो जाएगा । यहाँ तक कि उनका नाम-गुणगान भी बन्द हो जाएगा ।" भक्त को भी इस प्रकार की समाधि लग सकती है । तब उसके द्वारा बाहरी पूजा-पाठ, अनुष्ठान आदि सम्भव नहीं होता । ठाकुर कह रहे हैं कि इस अवस्था में वे तर्पण करने गये सही, पर कर नहीं पाये । बाद में हलधारी ने समझा दिया कि यह साधना का एक स्तर है, जहाँ पहुँचने पर मनुष्य की वैसी अवस्था हो जाती है ।

इसके पश्चात् ठाकुर अवतारी पुरुषों के स्तर बतलाते हैं । समझाते हैं---अवतार उसे कहा जाता है, जहाँ शक्ति का विशेष प्रकाश हो । अवतार, सिद्ध और सिद्धों का सिद्ध---ऐसा भेद शक्ति के प्रकाश की

अलग-अलग मात्रा के कारण किया जाता है। भगवान् की शक्ति सबमें पूर्ण रूप से है; पर उसके प्रकाश में तारतम्य है। यह बात हम व्यावहारिक जगत् से समझ सकते हैं। तभी तो ठाकुर ने विद्यासागर के प्रश्न के उत्तर में कहा था—तुम्हारे भीतर ईश्वरीय शक्ति का अधिक प्रकाश है, तभी तो लोग तुम्हें देखने आते हैं। जो वस्तु अखण्ड है, उसे खण्ड-खण्ड करके किसी जगह कम तो किसी जगह अधिक ऐसा नहीं किया जा सकता। एक रजकण तक में भगवान् की सत्ता परिपूर्ण मात्रा में विद्यमान है। केवल प्रकाश का अन्तर है। इसी से यह समझ में आता है कि कौन बद्ध है, कौन मुमुक्षु, कौन मुक्त है, कौन सिद्ध और कौन अवतार।

इसके पश्चात् लेक्चर देने की बात उठी। ठाकुर बोले, "एक बार केशव से बोला—तुम लोग जिस प्रकार लेक्चर देते हो, मैं सुनूँगा।" केशव तो असाधारण वाग्मी थे; उन्होंने व्याख्यान दिया। ठाकुर कह रहे हैं, "सुनकर मझे समाधि लग गयी।" उसमें उन्हें इतना आनन्द मिला। लेकिन साथ ही यह भी कह रहे हैं, "तुम लोग ईश्वर के ऐश्वर्य की बात इतनी क्यों कहते हो? भगवान्, तुमने अमुक किया है, तमुक किया है; तुमने सुन्दर फूल बनाये हैं, तुमने आकाश बनाया है,—यह सब इतना क्यों?" जो स्वयं ऐश्वर्य चाहते हैं, वे ही ईश्वर के ऐश्वर्य का इतना वर्णन करते हैं। जब तक ऐश्वर्य के प्रति हमारा मोह रहता है, तब तक भगवान् के ऐश्वर्य की ओर दृष्टि रहती है। लेकिन जितना ही हम उनके निकट पहुँचते हैं, उतनी ही उनसे घनिष्ठता होती जाती है। इसीलिए पहले-पहल भगवान् अनन्त

शक्तिस्वरूप प्रतीत होते हैं, अन्त में वे ही अनन्त प्रेम-स्वरूप हो जाते हैं। शान्त और दास्य में ऐश्वर्य का जो भाव रहता है, वह सख्य में कम हो जाता है और वात्सल्य में तो वह एकदम लुप्त हो जाता है। जिस प्रकार माँ सन्तान से किसी प्रकार की आशा नहीं करती, वह उसको केवल देती ही है, उसे उससे लेने का कुछ नहीं रहता, वैसा ही सम्बन्ध जब भगवान् से होगा, तब समझना चाहिए कि हम उनकी ओर काफी बढ़ चुके हैं। सर्वोपरान्त है मधुरभाव; वहाँ प्रेम में व्यक्ति भगवान् के साथ सम्पूर्ण रूप से एकाकार हो जाता है और द्वैतभाव नहीं रह जाता।

इसके पश्चात् जन्मान्तर की बात उठी। एक व्यक्ति ने जिज्ञासा की, "क्या आप जन्मान्तर मानते हैं?" ठाकुर बोले, "हाँ, मैंने सुना है कि जन्मान्तर है। ईश्वर का कार्य हम क्षुद्र बुद्धि के द्वारा कैसे समझेंगे? अनेक लोग कह गये हैं, इसलिए अविश्वास नहीं कर सकता।" भगवान् की लीला भला हम क्या समझेंगे? भीष्मदेव की वह अन्तिम बात याद होगी--"भगवान् की लीला मैं कुछ भी न समझ सका। जो भगवान् संसार के रक्षक हैं, वे पाण्डवों के सारथि बनकर साथ-साथ घूम रहे हैं, फिर भी पाण्डवों के दुःखों का अन्त नहीं है!" तात्पर्य यह कि तुम लोग इसी जन्म में भगवान् की यथेष्ट लीला देख रहे हो; जब उसी को समझ नहीं पा रहे हो, तब जन्मान्तर की चिन्ता में दिमाग लड़ाने से क्या लाभ! उसकी अपेक्षा यह सोचना अधिक अच्छा है कि किस प्रकार इस जन्म में यह जीवन पूरी तरह से काम में लग सकता है। इस

अनन्त जगत् का सब कुछ जानना तो सम्भव है नहीं, तब इतने सब फालतू सिद्धान्त दिमाग में ठूंस लेने से क्या लाभ ? यह दुर्लभ मनुष्य-जीवन मिला है, भगवान् की कथा सुनने का अवसर मिला है, हो सकता है कि उनके प्रति कुछ प्यार भी आया हो । ऐसी दशा में अब उनका चिन्तन करने की चेष्टा करनी होगी, उनमें डूब जाने की, उन्हें लेकर आनन्द करने की चेष्टा करनी होगी ।

○

श्रीरामकृष्ण-महिमा (१४)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर की नारायणपुर (जिला-बस्तर) शाखा के संचालक हैं।—स०)

(गतांक से आगे)

पाठक--ईश्वर-लाभ का बहुत सरल उपाय क्या है, जरा बतलाइए तो।

भक्त—भगवान् रामकृष्णदेव इस सम्बन्ध में एक गाना गाते थे, सुनो—

हरि से लाग रहो रे भाई।
तेरी बनत बनत बनि जाई।।
रंका तार्‌यो बंका तार्‌यो, तार्‌यो सदन कसाई।
सुवा पढ़ावत गनिका तारी, तारी मीराबाई।।
ऐसी भक्ति करो घट भीतर, छोड़ कपट चतुराई।
सेवा बँदगी और अधीनता, सहज मिलैं रघुराई।।

विषय से भरी हुई मलिन बुद्धि, कपटता और चतुराई छोड़कर भगवान् से लगे रहो, इससे ही तुम भगवान् को पाओगे।

पाठक--उनको पाये बिना कैसे उनसे लगे रहें? जरा मुझे समझाकर कहें, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

भक्त--मैं इतने दिनों से तुम्हारे समक्ष रामकृष्णदेव की महिमा का प्रसंग चला रहा हूँ। तुम्हारी बाते सुनकर

में अच्छी तरह समझ गया हूँ कि तुम साकारवादी हो, कृष्ण-रूप पसन्द करते हो। तुम्हारे घर में कृष्ण की प्रतिमा है। उसे तुम फूल-चन्दन के द्वारा रोज नये-नये प्रकार से सजाना। तुम लोग थियेटर के लोग हो, सजाने की कला भलीभाँति जानते हो। थियेटर में 'बिल्वमंगल' नाटक में जैसे कृष्ण को सजाते हो, ठीक वैसे ही अपने भगवान् को सजाना। गरमी के दिनों में उनके शरीर को हवा करना, ठण्ड के दिनों में शरीर में कपड़े पहनाना, उनके लिए सुन्दर बिस्तर लगाना। जहाँ जो अच्छी वस्तु मिले, वह कृष्ण के लिए लाना और सबसे सार बात—माखन-मिश्री का भोग लगाना। भोग देने के समय उनसे रो-रोकर कहना—कृष्ण, तुम्हें यह खाना होगा। कभी कृष्ण की लीला का पाठ करना और कभी जिन्होंने कृष्ण का दर्शन किया है अथवा जो कृष्ण से प्रेम करते हैं, ऐसे लोगों का सत्संग करना। इन समस्त कार्यों में लगे रहना ही कृष्ण के साथ तुम्हारा लगे रहना हुआ।

पाठक—महाशय, आपकी यह बात सुनकर मेरा मन न जाने कैसा करता है। आपने जो कहा, 'रो-रोकर कहना—कृष्ण तुम्हें यह खाना होगा।' क्या वे सचमुच खाएँगे ?

भक्त—अवश्य खाएँगे। इस विषय में कोई शंका मत करो। मैंने भगवान् को खाते देखा है।

पाठक—आप क्या कहते हैं ? आपकी बात सुनकर मेरा शरीर काँप उठा है और मुझे बहुत रोना आ रहा है। मैं बहुत अधम और मलिन हूँ, सब प्रकार के पाप-कर्मों में लिप्त रहा हूँ, मेरे द्वारा स्पर्श की गयी वस्तु क्या भगवान् खाएँगे ?

भक्त—मैं भी पहले वैसा ही सोचता था, परन्तु श्री-रामकृष्णदेव की कृपा से मेरी वह शंका दूर हो गयी है। इसीलिए कहता हूँ, सुनो—तुम जैसे अपने भीतर मलिनता और पाप-कालिमा देखते हो, वैसे ही यदि तुम भगवान् की करुणा का कुछ आभास देख पाते और उसे जान पाते, तो तुम यह बात अपने मुँह में नहीं ला पाते थे। भगवान् करुणा के सागर हैं, दयानिधि हैं। मैं चाहे जितना पाप क्यों न करूँ, उन दयासागर के समक्ष वह कुछ भी नहीं है। यदि तुम सरोवर में एक दावात स्याही डाल दो तो क्या वह स्याही, स्याही रह जाएगी ? वह तो सरोवर के जल में मिलकर सरोवर का जल ही हो गयी। एक कण ओस क्या सूर्य के पास तक पहुँच सकती है ? एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते ही वह जाने कहाँ उड़ जाती है। जो भगवान् कारागार में पैदा हुए थे, जो भगवान् भक्त के लिए स्वयं बँध गये थे, जिन भगवान् ने गोप बालकों का जूठा खाया था, जिन भगवान् ने ब्राह्मण का पदचिह्न अपनी छाती में धारण किया था, जो भगवान् अपने स्वयं का रक्त देकर जीव-जगत् का पालन करते हैं, वे ही भगवान् क्या इसका हिसाब लेकर बैठे रहेंगे कि तुमने कहाँ पर क्या किया है ? छि:, छि:, दया के सागर भगवान् पर ऐसा कलंक मत लगाओ।

उनकी करुणा की सीमा का आभास मात्र भी यदि लोग पा जाते, तो उन्हें कोई एक बार प्रणाम भी नहीं करता और न कोई उनकी खातिर करता। उनकी कृपा का कोई अन्त नहीं है, कोई कूल-किनारा नहीं है। लड़के में चाहे जितने दोष हों, माता-पिता उस ओर कोई नजर नहीं देते। और भगवान् जो सारे संसार के माता-पिता हैं,

जिनके परम लाड़-प्यार का यह जीव-जगत् है, इस सृष्टि के प्रति उनके वात्सल्य की उत्ताल तरंग इतनी प्रबल है कि वहाँ कोटि-कोटि अपराधों का सागर ढाल देने पर वह कहाँ चला जाता है, इसकी खोज-खबर पाना मुश्किल है।

दयामय रामकृष्णदेव के निकट उनकी अपार करुणा का आभास पाकर गिरीश बाबू ने ठाकुर के दोनों चरणों को लक्ष्य करके कहा था, "हाय! हाय! यदि मैं पहले जान पाता कि अपने पापों को उँड़ेलने के लिए ऐसा नाला पाऊँगा, तो जी भरकर पाप करने की इच्छा ही मिटा लेता। अब तो दर्शन कर लिया है, और पाप करने का कोई उपाय नहीं है।"

पाठक—क्यों महाशय, रामकृष्णदेव का दर्शन करने से क्या और पापकर्म नहीं किया जा सकता?

भक्त—किसमें सामर्थ्य है जो करे? भगवद्दर्शन का फल अद्भुत है। जिस प्रकार जलती हुई आग में सूखे पत्ते तुरन्त भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार उनके दर्शन मात्र से करोड़ों जन्मों की समस्त पापराशि सदा के लिए नष्ट हो जाती है। पाप के नाश के साथ ही और एक वस्तु का नाश होता है, वह क्या है जानते हो? वह है पुनर्जन्म का अंकुर। ईश्वर-दर्शन होने से जन्म और नहीं होता। गीत का एक अंग कहता हूँ, सुनो—

जय जगतजीवन जगबन्धु।
सुना पुराणों को कहते,
होता नहीं पुनर्जन्म देख तव मुखइन्दु।

पाप से मुक्ति के पश्चात् हृदय के पवित्र होने से जीव फिर पापकर्म नहीं कर सकता।

पाठक—जीव के प्रति भगवान् की जब इतनी दया

है तो लोगों को जो रोग, शोक तथा अर्थाभाव से इतना अधिक कष्ट पा रहे हैं, वे मुक्त क्यों नहीं कर देते ?

भक्त—यदि तुम अपने हाथों से नाली काटकर बाँध का पानी अपने घर में घुसाओ तो उसमें भगवान् का क्या दोष ? कर्म का एक फल होता है और कर्ता को कर्मफल भोगना पड़ता है इसे मानते हो तो ? उन्होंने जो काम करने से तुम्हें मना किया है, तुम वही करते हो। वे कहते हैं आग में हाथ मत डालो, और तुम आग में हाथ डालते हो, तो क्या वह जलेगा नहीं ? वे अच्छा और बुरा दोनों अच्छी तरह से दिखा दे रहे हैं, बता दे रहे हैं। तुम स्वयं की इच्छा से अच्छे की ओर ही नहीं जाओगे और केवल बुरे का संग करोगे, जो तुम्हारा रोग, शोक, अभाव आदि का भोग करना निश्चित है। तुम जिस प्राणी का संग करोगे, उससे तुमको वही मिलेगा जो उसके पास है। साँप के निकट रहोगे तो विष पाओगे और यदि कामधेनु के पास रहो तो दूध मिलेगा। कामिनी-कांचन साक्षात् मूर्तिमती अविद्या-सर्पिणी है। तुम सदा ही उसका चिन्तन करते हुए उसके साथ हो, अतः रोग, शोक, दुःख आदि को छोड़ और क्या पाने की आशा कर सकते हो ? यदि तुम समस्त दुःखों का नाश करनेवाली कामधेनुरूपा जगन्माता का चिन्तन और संग करो, तो अवश्य ही शान्तिरूपी खीर पाओगे।

एक बात कहता हूँ, सुनो—वेद-वेदान्त, तन्त्र-मन्त्र, गीता-पुराणादि यह जो शास्त्रों का महान् भण्डार है वह क्या है, जानते हो ? वह सब भगवान् की वाणी है, उनके श्रीमुख के वचन हैं। इन समस्त शास्त्रों में उन्होंने केवल एक ही बात कही है और वह यह कि हे जीव, जिससे तू

सुखी रह सके वही कर, मैं उससे ही प्रसन्न होऊँगा।

भगवान् अपने श्रीमुख से यह बात कहते हैं, परन्तु उन्होंने अपने सृष्टि-कौशल द्वारा एक ऐसा उपाय कर रखा है कि जब जीव अपने सुख और मंगल के लिए काम करने जाता है, तो देखता है कि भगवान् की आराधना, तपस्या और साधना के सिवाय अन्य किसी भी कर्म-पथ में सुख अथवा मंगल की आशा नहीं है। अतः जीव को बाध्य हो उनकी सेवा, आराधना और साधना करनी पड़ती है। इस सृष्टि के बीच भगवान् को छोड़ और किसी में भी सुख-शान्ति की आशा नहीं है।

किन्तु यह हतभागा जीव ऐसा दिग्भ्रमित, अन्धा और बहरा है कि वह गिलटरूप काम-कांचन को छोड़ विशुद्ध स्वर्णरूप भगवान् की ओर ही नहीं जाएगा, उनका रूप ही नहीं देखेगा और न उनकी बातें सुनेगा। जीव के एकदम अनियन्त्रित होने पर दयानिधि भगवान् स्वयं रूप धारण कर मनुष्य के समान होकर उसे नियंत्रित करने के लिए आते हैं। तब भी क्या वह आँखें खोलकर देखता है? भगवान् दया से परिपूर्ण हो विचलित हो उठते हैं, इसलिए वे अपनी ही लाचारी से जीव के द्वार द्वार घूमकर उसे नियन्त्रित करने आते हैं। तब जीव भगवान् को नाछोड़बन्दा देखकर क्या करता है, जानते हो? वह भगवान् को पागल समझ हँसकर उड़ा देता है। भाई, जीव उनकी बातों पर जीभ दिखाता है। तो समझ लो, इसका नाम जीव है और यही जीव की बुद्धि है। इधर इसी बुद्धि से वह आकाश में उड़ रहा है; एक देश से दूसरे देश में पाँच मिनट में खबर भेज रहा है, महान् शक्तिशाली पंचभूतों को मोल लिये गुलाम की भाँति हुकुम

दे रहा है, अंगहीनों का अंग बना दे रहा है तथा और भी कितने सैकड़ों अद्भुत कार्य कर रहा है। उसकी बुद्धि की चोट से सारी पृथ्वी थर-थर काँप रही है, परन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में वही बुद्धि कुलाट खा जाती है।

जीव स्वयं का मंगल, अपने स्वयं का सुख किसमें है, समझ नहीं पाता। जब वह सुख के उत्स को जान पाता है, तब वह संसार की सब वस्तुओं को छोड़ भगवान् के बीच, भगवान् के सान्निध्य में रहने का प्रयास करता है। संसार की किसी भी वस्तु से कभी किसी को तनिक भी सुख नहीं मिल सकता, सारे पुराण इसके साक्षी हैं। संसार को सुख की खान समझकर जिसने इसका सहारा लिया है, अन्त में उसके प्राणों पर आ बनी है। संसार कैसा है, जानते हो? जैसा दाल पीसने की चक्की। चक्की के बीचों-बीच लकड़ी की एक कील होती है। जो दाल कील के पास रहती है, वह टूटती नहीं, बाकी सब दाने टूट जाते हैं अथवा पिस जाते हैं। चक्की में जैसे कील रहती है, वैसे ही भगवान् संसार में हैं। तुम यदि संसार में भगवान् के समीप रह सको तो पिसने से बच जाओगे। चक्की की कील के पास जैसे दाल बच जाती है, तुम भी उसी प्रकार संसार में भगवान् के समीप रहने से सुरक्षित रहोगे। कील को छोड़ चक्की के दूसरे स्थान पर जाने से ही चक्की अपना कार्य करेगी। उसी प्रकार भगवान् को छोड़ संसार में रहने से ही त्रिताप और अशान्ति अनिवार्य और अपरिहार्य हैं। भगवान् ने जीव को कचरे और सोने दोनों का ढेर दिखाकर संसार में छोड़ दिया है। यदि तुम कचरे के ढेर में ही पड़ रहना चाहो तो वे भला क्या करेंगे? भगवान् कल्पतरु हैं, तुम उनके

पास जो चाहोगे, वे वही देंगे। चोर जब माँ-काली की पूजा करके वरदान माँगता है, तब क्या वे कहती हैं कि मैं तुझे वरदान नहीं दूँगी ? वे तो मानस-पूजा के फल-स्वरूप चोर और साधु दोनों को वरदान देती हैं। उन्होंने कर्म के साथ उसका फल बाँध रखा है। चोर चोरी का फल पाता है और साधु अपनी आराधना का। अब तुमने समझ लिया तो कि जीव स्वयं के दोषों से कष्ट पाता है तथा भगवान् दयामय, करुणामय और मंगलमय हैं।

(क्रमशः)

O

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (७)

शिष्यों का मनोराज्य में पूर्वदर्शन तथा उनका वास्तविक आगमन

स्वामी योगेशानन्द

(लेखक अमेरिकन हैं और विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो में कार्यरत हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का सुन्दर संकलन किया है, जो रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा 'The Visions of Sri Ramakrishna' के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित हुआ है। प्रकाशक की अनुमति से यह अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है । अनुवाद-कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है।——स०)

"केशव सेन से मुलाकात होने के पहले उसे मैंने देखा ! समाधि-अवस्था में मैंने देखा केशव सेन और उसके दल को। कमरे में ठसाठस भरे हुए आदमी मेरे सामने बैठे हुए थे। केशव को मैंने देखा, उन लोगों में मोर की तरह अपने पंख फैलाये बैठा हुआ था । पंख अर्थात् दल-बल। केशव के सिर में, देखा, एक लाल मणि थी । वह रजोगुण का लक्षण है। केशव अपने चेलों से कह रहा था——'ये[1] क्या कह रहे हैं, तुम लोग सुनो।' माँ से मैंने कहा, 'माँ, इन लोगों का अंग्रेजी मत है, इनसे क्या कहना है?' फिर माँ ने समझाया, कलिकाल में ऐसा ही होता है।"[2] और ऐसा होना ही था, जैसा कि श्रीरामकृष्ण का अन्तिम ग्यारह वर्ष का जीवन प्रदर्शित करता है। दक्षिणेश्वर से निःसृत आध्यात्मिक आलोक को भाषा, जाति, संस्कृति एवं व्यक्तिगत सुविधाओं की

---

१. श्रीरामकृष्ण ।

२. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ २७१ ।

सीमाएँ अपने घेरे में बाँधकर नहीं रख सकीं। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उत्तराधिकारी के रूप में केशवचन्द्र सेन द्वारा ब्राह्मसमाज का वास्तविक नेतृत्व सँभाल लेना तथा ठाकुर के साथ उनका मिलना ठाकुर के जीवन के उस 'खुले द्वार-रूप' अध्याय का श्रीगणेश करता है, जिसमें उपदेश देना, लोगों से मिलने जाना, लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना रोजमर्रे का काम हो गया था। एक विवरण से ज्ञात होता है कि ठाकुर ने पहले भी एक बार केशव को एक धर्मसभा में ध्यान करते हुए दूर से देखा था और कहा था कि एकमात्र उन्हीं का ध्यान ठीक-ठीक हो रहा है। तथापि पारम्परिक अर्थ में केशव उनके शिष्य नहीं बने थे। श्रीरामकृष्ण तथा उनके बीच का सम्बन्ध निरूपित करना अत्यन्त कठिन है, परन्तु इसका अध्ययन काफी रोचक है। हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि ब्राह्मसमाज और उसके नेताओं पर पड़े श्रीरामकृष्ण के प्रभाव के बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है, परन्तु इस सम्बन्ध का प्रभाव दूसरी दिशा में भी हुआ था। ये 'आधुनिक ब्रह्मज्ञानी', जैसा कि श्रीरामकृष्ण उन्हें सम्बोधित करते थे, उनके पास ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी प्रश्न तथा निराकार ईश्वरतत्त्व में रुचि लेकर आते थे, और एक तरह से इसका उन पर प्रभाव पड़ा था। ठाकुर ने उसे संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया था—"पहले-पहल साकारवादी खूब आते थे। इसके बाद आजकल के निराकारवादी ब्राह्मसमाजियों का धावा होने लगा। तब (१८७४ ई. से करीब १८८० ई. तक) प्रायः उसी तरह में बेहोश होकर समाधिमग्न हो जाया करता था। और होश में आने पर कहता था—माँ, मुझे

ब्रह्मज्ञान न देना ।"[3]

हम कहना चाहेंगे कि उक्त उद्धरण में श्रीरामकृष्ण ने जिस प्रकार अपने मनोराज्य में देखे गये प्रतीकों की व्याख्या की है, इस प्रकार की घटना अत्यन्त विरल है-- मणि है केशव के रजोगुण की प्रतीक तथा पंख उनके अनुयायियों का ।

तदुपरान्त 'म' (महेन्द्रनाथ गुप्त) तथा बलराम बोस दो ऐसे भक्त प्रतीत होते हैं, जिनका ठाकुर को पूर्वदर्शन मिला था। ये दोनों चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन-दलवाले महत्त्वपूर्ण दर्शन में दीख पड़े थे । इस दर्शन के समय ठाकुर सम्भवतः अपने कमरे के उत्तरी बरामदे में खडे थे। उन्होंने पंचवटी की दिशा से आध्यात्मिक भावों में विभोर एक अपार जनसमूह को तरंग के समान आगे बढ़ते देखा था। इस दल के शीर्ष स्थान पर भगवत्प्रेम में विभोर चैतन्य महाप्रभु अपने दोनों तरफ नित्यानन्द एवं अद्वैत को संग लिये धीरे-धीरे कदम रखते आगे बढ़ रहे थे। उनमें से कोई-कोई भक्त प्रेम में मतवाले हो रहे थे और कोई उद्दाम ताण्डव करते हुए अपने हृदय का उल्लास प्रकट कर रहे थे। इतनी जनता एकत्रित हुई थी, जिसकी कोई सीमा नहीं दीख पड़ती थी और यह टोली अग्रसर होती हुई वृक्षों के पीछे लुप्त हो गयी ।[4] उनमें से कुछ चेहरे श्रीरामकृष्ण के मानसपटल पर सदा के लिए अंकित हो गये थे। महेन्द्रनाथ जो उनके पास १८८२ ई. में पहली बार आये, से उन्होंने कहा था, "इसके भीतर जो हैं वे पहले से ही बता देते हैं, किस श्रेणी का भक्त आने-

३. वही, भाग २, पंचम सं०, पृष्ठ २०९।

४. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग १, तृतीय सं०, पृष्ठ ४६८।

वाला है । ज्योंही देखता हूँ, गौरांग का रूप सामने आया कि समझ जाता हूँ, कोई गौरांग-भक्त आ रहा है। अगर कोई शाक्त आता है तो शक्तिरूप—कालीरूप—दीख पड़ता है। वट के नीचे से बकुल के पेड़ तक उन्होंने चैतन्य-देव का संकीर्तन-दल दिखलाया। उसमें शायद बलराम को देखा था और तुम्हें भी शायद देखा था।"[५] एक अन्य समय उन्होंने भक्तों को बताया था कि उन्होंने चैतन्यदेव के सांगोपांगों को 'भाव में नहीं इन्हीं आँखों से देखा था।' "पहले ऐसी अवस्था थी कि सादी दृष्टि से सब दर्शन होते थे । अब तो भाव में होते हैं।"[६] पहले भी एक बार, १८८३ ई. के प्रथम दिन उन्होंने 'म' से यही बात कही थी, और यह श्रीरामकृष्ण के मुख से निःसृत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों में से एक है, क्योंकि, प्रथमतः, इसका सीधा तात्पर्य यह है कि जाग्रत् अवस्था में हुए दर्शन—या, दूसरे शब्दों में, ऐसे दर्शन जिनमें मूर्तियाँ 'लोक-संसार' में रहती और चलती-फिरती दीख पड़ती हैं—भावसमाधि में होनेवाले दर्शनों की अपेक्षा कहीं उच्चतर आध्यात्मिक अवस्था के सूचक हैं; द्वितीयतः, इसका ऐसा तात्पर्य भी प्रतीत होता है कि यह टिप्पणी करते समय ठाकुर को ऐसा लगा मानो उनका मन किन्हीं मायनों में एक निम्नतर स्तर पर उतर आया हो । परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि अगले तीन वर्षों के दौरान अपनी अवस्था के बारे में उनका मूल्यांकन प्रायः बदलता रहता था ।

५. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं०, पृष्ठ ६०३; भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ २७०, २७३ ।

६. वही, भाग १, सप्तम सं०, पृष्ठ ५४० ।

इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि कभी कभी इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि श्रीरामकृष्ण द्वारा वर्णित एक विशिष्ट अनुभूति को 'दिव्य दर्शन' कहा जाय अथवा नहीं। एक उदाहरण लेते हैं--"शिहड़ गाँव में चरवाहों को भोजन कराया। सबके हाथ में मैंने जलपान की सामग्री दी। देखा, साक्षात् व्रज के ग्वालबाल! उनसे जलपान लेकर मैं भी खाने लगा।"[७] अब इस घटना को हम खुली आँखों से दर्शन नहीं कह सकते, तथापि ये लड़के ठाकुर को पूर्णतः वृन्दावन के गोपबालक ही दीख पड़ते हैं। आध्यात्मिक महत्त्व की दृष्टि से ऐसी अनुभूतियों को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता, और चूँकि उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में ऐसी अनुभूतियाँ आम बात हो गयी थीं, आगामी पृष्ठों में हमने उनमें से अनेकों का उल्लेख किया है।

१८७५ ई. में श्रीरामकृष्ण जब अन्तिम बार कामारपुकुर की यात्रा पर गये, तो वहाँ से वे हृदय के ग्राम शिहड़ को भी गये थे। वहाँ निवास करते समय उनके सुनने में आया कि वहाँ से थोड़ी ही दूर बेलटे और श्याम-बाजार में अनेक वैष्णव रहते हैं, जो प्रतिदिन कीर्तन आदि के द्वारा उस स्थान को आनन्दमय बनाये रखते हैं। श्रीरामकृष्ण भी वहाँ जाकर उस कीर्तन को देखने और उसमें भाग लेने को उत्सुक हो उठे। उनके इसमें भाग लेने का अद्भुत फल हुआ और उनकी भाव-समाधि की बात बिजली की भाँति चारों ओर फैल जाने से मीलों दूर के कीर्तन-दल खिचकर चले आये। वह पूरा इलाका रातदिन उन्मादपूर्ण नृत्य में मतवाला हो उठा।

७. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं०, पृष्ठ ३२६।

श्रीरामकृष्ण ने श्यामबाजार ग्राम में ज्योंही प्रवेश किया कि उन्हें चैतन्यदेव[८] का दर्शन हुआ। उन्होंने बताया था कि इसके फलस्वरूप उन्हें पता चल गया कि इस ग्राम के वासी श्रीगौरांग के भक्त हैं।[९] इस अवधि में, विशेषकर तीन दिन और तीन रात, कीर्तन-दलों के बीच उन्होंने कीर्तन में दिव्य आनन्द की आँधी का अनुभव किया। वहाँ सर्वत्र यह चर्चा फैल गयी कि एक ऐसा आदमी आया है, जो सात बार मरकर सातों बार जी उठा है।

बेलटे में नटवर गोस्वामी के घर, जहाँ कि वे ठहरे हुए थे, एक भोज के अवसर पर उन्हें श्रीकृष्ण और गोपियों का दर्शन हुआ। उन्हें लगा कि उनका सूक्ष्म शरीर श्रीकृष्ण के पैरों के पीछे-पीछे जा रहा है।[१०]

एक दर्शन के फलस्वरूप ठाकुर ने दक्षिणेश्वर में बाबू की कोठी की छत पर जाकर अपने भक्तों के लिए जो हृदयविदारक हाँक लगायी थी, वह जैसा मर्मस्पर्शी है वैसा ही निश्छल भी—"एक बार दिखाया कि यहाँ के (मेरे) अनेक भक्त हैं—पार्षद—अपने जन। तुम लोगों को देखने के लिए उस समय मेरा चित्त इस प्रकार व्याकुल हो उठता, हृदय इस तरह ऐंठने लगता कि दर्द से मैं विकल हो जाया करता था। जोर से चिल्लाकर रोने की मेरी इच्छा होती थी। किन्तु लोगों के सम्मुख यह विचार कर

८. एक बार उन्होंने बताया था कि हृदय के घर पर उन्हें गौरांग के दर्शन हुए थे, उन्होंने काली धारी की धोती पहन रखी थी। ('वचनामृत', भाग १, पृष्ठ २१२)।

९. 'Life of Sri Ramakrishna', अद्वैत आश्रम, १९२५, पृ. ३८४; 'वचनामृत', भाग २, पंचम सं०, पृष्ठ ३१४।

१०. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं०, पृष्ठ ५७९।

कि वे क्या सोचेंगे, मैं रो नहीं पाता था; किसी तरह सम्हलकर रहा करता था। जब दिन बीतकर रात हो आती, माँ के मन्दिर तथा विष्णुमन्दिर में आरती के घण्टा-घड़ियाल बज उठते, उस समय यह सोचकर कि और भी एक दिन चला गया, तुम लोग अभी तक नहीं आये, मैं अपने को सम्हाल नहीं पाता था; कोठी की छत पर चढ़कर व्याकुल हो चिल्लाकर कहता, 'अरे, तुम लोग कौन कहाँ हो? आओ, तुम्हें देखने के लिए मेरे प्राण छटपटा रहे हैं।' माँ से रो-रोकर कहता था, 'माँ, भक्तों के लिए मेरा जी निकल रहा है, उन्हें शीघ्र मेरे पास ला दे'।"[११] एक बार कालीमन्दिर में ध्यान करते समय उन्होंने शिव के गण एक भैरव का दर्शन पाकर कहा था, "तुम क्यों आये हो?" उसने उत्तर दिया, "तुम्हारा कार्य करने को।" काफी दिनों के बाद गिरीश चन्द्र घोष आकर जब श्रीरामकृष्ण के साथ सुपरिचित हुए, तो उन्होंने उक्त भैरव को गिरीश के रूप में पहचान लिया था।[१२]

यह कौन बता सकता है कि श्रीरामकृष्ण को सप्तर्षि-मण्डल का जो दर्शन हुआ था, वही क्या उनके लिए नरेन्द्र के आविर्भाव की प्रथम सूचना थी? हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसे एक शिष्य के अस्तित्व तथा भविष्य में उनके साथ होनेवाले साक्षात्कार के बारे में कुछ संकेत उन्हें इस दर्शन के पूर्व भी मिल चुके होंगे। परन्तु इस दर्शन के सम्बन्ध में उनके स्वयं के कथन को छोड़

११. वही, पृष्ठ ४३५ व ५४१; 'लीलाप्रसंग', भाग २, तृतीय सं०, पृष्ठ ४११-१२।

१२. 'Disciples of Sri Ramakrishna', पृष्ठ ४००।

हमारे पास ऐसी कोई जानकारी नहीं है। वास्तव में उनकी अतीन्द्रिय अनुभूतियों में इस दर्शन का जैसा विस्तृत विवरण प्राप्त है, उससे कहा जा सकता है कि वह सर्वाधिक विवरणयुक्त दर्शन न भी हो तो विस्तृत विवरण-युक्त दर्शनों में से एक है। वे बतलाते हैं--"एक दिन देखा—मन समाधि के मार्ग से ज्योतिर्मय पथ में ऊपर उठता जा रहा है। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्रयुक्त स्थूल जगत् का सहज में ही अतिक्रमण कर वह पहले सूक्ष्म भाव-जगत् में प्रविष्ट हुआ। उस राज्य के ऊँचे से ऊँचे स्तरों में वह जितना ही उठने लगा, उतनी ही अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ पथ के दोनों ओर दिखाई पड़ने लगीं। क्रमशः उस राज्य की अन्तिम सीमा पर वह आ पहुँचा। वहाँ देखा, एक ज्योतिर्मय परदे के द्वारा खण्ड और अखण्ड राज्यों का विभाग किया गया है। उस परदे को लाँघकर वह क्रमशः अखण्ड राज्य में प्रविष्ट हुआ। वहाँ देखा, मूर्तरूपधारी कुछ भी नहीं है, यहाँ तक कि दिव्य देहधारी देवी-देवता भी वहाँ प्रवेश करने का साहस न कर सकने के कारण बहुत दूर नीचे अपना-अपना अधिकार फैलाकर अवस्थित हैं। किन्तु दूसरे ही क्षण दिखाई पड़ा कि दिव्य ज्योतिर्घनतनु सात प्राचीन ऋषि वहाँ समाधि-स्थ होकर बैठे हैं। समझ लिया कि ज्ञान में और पुण्य में तथा त्याग-प्रेम में ये लोग मनुष्य का कहना ही क्या, देवी-देवता तक के परे पहुँचे हुए हैं। विस्मित होकर इनके महत्त्व के विषय में मैं सोचने लगा। इसी समय सामने देखता हूँ, अखण्ड, भेद-रहित, समरस, ज्योतिर्मण्डल का एक अंश घनीभूत होकर एक दिव्य शिशु के रूप में परिणत हो गया। वह देवशिशु उनमें से एक के पास

जाकर अपने कोमल हाथों से आलिंगन करके अपनी अमृतमयी वाणी से उन्हें समाधि से जगाने के लिए चेष्टा करने लगा। शिशु के कोमल प्रेम-स्पर्श से ऋषि समाधि से जाग्रत् हुए और अधखुले नेत्रों से उस अपूर्व बालक को देखने लगे। उनके मुख पर प्रसन्नोज्ज्वल भाव देखकर ज्ञात हुआ मानो वह बालक उनका बहुत दिनों का परिचित हृदय का धन है। वह अद्भुत देवशिशु अति आनन्दित हो उनसे कहने लगा, 'मैं जा रहा हूँ, तुम्हें भी आना होगा।' उसके अनुरोध पर ऋषि के कुछ न कहने पर भी, उनके प्रेमपूर्ण नेत्रों से अन्तर की सम्मति प्रकट हो रही थी। इसके अनन्तर ऋषि बालक को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखते हुए पुनः समाधिस्थ हो गये। उस समय आश्चर्यचकित होकर मैंने देखा कि उन्हीं के शरीर-मन का एक अंश उज्ज्वल ज्योति के रूप में परिणत होकर विलोम मार्ग से धराधाम में अवतीर्ण हो रहा है। नरेन्द्र को देखते ही मैं जान गया था कि यही वह है।"[१३]

आपमें से बहुतों को ज्ञात होगा कि श्रीरामकृष्ण ने बाद में बताया था कि उन्होंने स्वयं ही उक्त देवशिशु का रूप धारण किया था। जहाँ तक निराकार और और अखण्ड के राज्य में प्रवेश करने में देवताओं के 'भय' का प्रश्न है, वह एक विशिष्ट प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। यह विशिष्टता ठाकुर की एक अन्य अनुभूति में पुनः दीख पड़ती है, जिसका हम आगे चलकर वर्णन करेंगे। उसमें एक हिस्से के भक्त घेरे के उस तरफ निराकार की ओर झाँककर भय से भाग उठते हैं। पूर्वोक्त दर्शन में उल्लेखनीय बात यह है कि वहाँ श्रीरामकृष्ण का

१३. 'लीलाप्रसंग', भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ ८०-८१।

अपना मन बेहिचक उस घेरे को लाँघ गया; और यह विशेषता उनमें आजीवन बनी रही थी। सप्तर्षि-मण्डल का यह दर्शन विचारवादियों को सोचने-सुलझाने के लिए अनेक पहेलियाँ प्रदान करता है। निराकार के उस हिस्से में ऋषियों का आकार भला कैसे देखा जा सकता है ? फिर एक ऋषि के शरीर और मन का एक 'अंश' धरती पर किस प्रकार अवतीर्ण हो सकता है ? निःसन्देह, ऐसे प्रश्न सदा-सर्वदा ही बुद्धि को चकराते रहेंगे। दिव्य दर्शनों की मीमांसा करन के लिए अन्तःप्रज्ञा का आश्रय लेना ही ज्यादा उचित प्रतीत होता है और हमारा अनुमान है कि उपर्युक्त दर्शन आगामी कई वर्षों तक चिन्तन करने को यथेष्ट सामग्री प्रदान करेगा।

नरेन्द्र के अवतरण के सम्बन्ध में जो दूसरा विवरण प्राप्त है, उसका भी अपना अलग ही आकर्षण है। ठाकुर ने पहले तो अखण्ड सच्चिदानन्द का दर्शन किया। तदुपरान्त, वे कहते हैं, "उसके भीतर मैंने देखा है, बीच में घेरा लगाकर उसके दो हिस्से कर दिये गये हैं। एक हिस्से में केदार, चुन्नी तथा अन्य साकारवादी भक्त हैं; घेरे के दूसरी ओर खूब लाल सुर्खी की ढेरी की तरह प्रकाश है, उसके बीच में समाधिमग्न नरेन्द्र बैठा हुआ है। (उसे) ध्यानस्थ देखकर मैंने पुकारा, 'नरेन्द्र !' उसने जरा आँख खोली।—मैं समझ गया, वही एक रूप में, सिमला[१४] में, कायस्थ के यहाँ पैदा होकर रह रहा है। तब मैंने कहा, 'माँ, उसे माया में बाँध लो, नहीं तो समाधि में वह देह छोड़ देगा।' केदार साकारवादी है, उसने झाँककर देखा, उसे रोमांच

१४. कलकत्ता महानगरी का एक अंचल।

हो आया और वह भागा ।"[१५] यहाँ पर वस्तुत: हम एक विषम परिस्थिति में पड़ जाते हैं : श्रीरामकृष्ण अपने भावी शिष्य को एक ऐसे रूप में देखते हैं, जो बाद में उसके द्वारा लिये गये रूप से भिन्न है, तथापि दर्शन के समय वे उस बालक को उसके प्रदत्त नाम से पुकारते हैं ।

१८८१ ई. के आरम्भ के साथ ही साथ उनके परम प्रिय शिष्य राखाल का आगमन हुआ,[१६] जो आगे चलकर उनके घनिष्ठतम सहचर होनेवाले थे । नरेन्द्रनाथ के अवतरणवाले दृश्य में श्रीरामकृष्ण ने एक शिशु का रूप धारण किया था । इस बार शिशु का ही उनके पास आगमन हुआ । पहले उन्होंने मन्दिर-परिसर के अन्दर के वटवृक्ष के नीचे एक लड़के को खड़ा देखा । थोड़ी देर बाद एक अन्य दर्शन में जगदम्बा प्रकट हुईं और एक छोटे शिशु को उनकी गोद में सौंपती हुई बोलीं, "यह तेरा पुत्र है ।" श्रीरामकृष्ण कहते हैं—"सुनकर मैं भय से सिहरकर कह उठा, 'यह क्या ? मेरा पुत्र कैसा ?' उन्होंने हँसकर समझा दिया, 'साधारण दृष्टि से पुत्र नहीं, त्यागी मानसपुत्र ।' तब कहीं मैं निश्चिन्त हुआ । इस दर्शन के बाद ही राखाल आया और मैं समझ गया कि यही वह बालक है ।"[१७] ठाकुर ने 'म' को बताया कि एक बार उन्होंने जगदम्बा से कहा था—"माँ, यह ठीक है कि मेरे बच्चे न होंगे; परन्तु मेरी इच्छा है कि भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम रखनेवाला एक बालक

---

१५. 'वचनामृत', भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ २७१-७२ ।

१६. किसी किसी के मतानुसार वह सन् १८८० ई. का वर्ष था ।

१७. 'लीलाप्रसंग', भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ ४५; 'The Eternal Companion', पृष्ठ ११ ।

सर्वदा मेरे पास रहे। मुझे एक ऐसा लड़का दे द"; इसीलिए राखाल आया। फिर राखालचन्द्र के अपने सम्बन्धियों (जो श्रीरामकृष्ण के भक्त थे) द्वारा लाये जाने के कुछ ही क्षणों पूर्व श्रीरामकृष्ण ने अचानक गंगाजी के वक्ष पर एक सहस्रदल पद्म खिलते देखा, जिसकी प्रत्येक पँखुड़ी अपूर्व सौन्दर्य से दमक रही थी। कमल के ऊपर दो बालक पाँवों में नूपुर पहने नृत्य कर रहे थे। उनमें से एक तो श्रीकृष्ण थे और दूसरा था वही बालक, जो पिछले दर्शन में दिखाई पड़ा था। उनका नृत्य इतना मधुर था कि उसका वर्णन सम्भव नहीं। इस नृत्य के फलस्वरूप माधुर्य का सागर मानो छलक पड़ रहा था। श्रीरामकृष्ण भावसमाधि में डूब गये।[१८] जो लोग स्वामी ब्रह्मानन्द के परवर्ती जीवन से परिचित हैं, उन्हें ज्ञात होगा कि महाराज के जीवन के अन्तिम काल में भी, उन्हें अपने मूल उद्गम की स्मृति दिलाने को एक ऐसा ही अद्भुत दर्शन हुआ था।

श्रीरामकृष्ण की एक अन्य अनुभूति के बारे में भी हमें उन्हीं (ब्रह्मानन्द) के वर्णन पर निर्भर करना होगा। 'The Eternal Companion'[१९] (चिर सहचर) ग्रन्थ में वे कहते हैं कि ठाकुर ने एक बार उन्हें बताया था— "एक दिन जब मैं मन्दिर में बैठा ध्यान कर रहा था, तो मेरी चेतना पर से माया के परदे एक एक कर उठते चले गये। माँ ने मुझे कोटि सूर्यों से भी अधिक तेजवान् आलोक दिखाया। उस आलोक में से एक आध्यात्मिक

१८. 'The Eternal Companion', पृ. १२।
१९. 1944 Edition, Vedanta Society of So. Calif., पृष्ठ १०७।

रूप प्रकट हुआ । तदुपरान्त वह रूप उस प्रकाश में ही विलीन हो गया । निराकार साकार हुआ और पुनः निराकार में ही तिरोहित हो गया ।"

तत्पश्चात् नरेन्द्र का आगमन हुआ और ठाकुर के कमरे में उनके प्रथम बार प्रवेश करने की वह घटना प्रसिद्ध है, जब श्रीरामकृष्ण के अनुरोध पर उन्होंने 'मन चलो निज निकेतने' वाला भजन गाया था । श्रीरामकृष्ण उस समय सम्भवतः छोटे तख्त पर बैठे थे, वे गायन सुनकर भावविह्वल हो उठे । उन्होंने बताया था––"इतनी तन्मयता के साथ सोलह आने मन-प्राण देकर गाया मानो प्रतीत होता था कि ध्यानस्थ होकर गा रहा है । गान सुनकर मैं अपने को सम्हाल न सका, भावाविष्ट हो गया ।" फिर आगामी छः महीनों तक श्रीरामकृष्ण की अपने परमप्रिय नरेन्द्रनाथ के बिछोह में बड़ी विचित्र अवस्था रही । बिछोह की ऐसी तीव्रता का अनुभव बिरले ही कर पाते हैं । उन्होंने बताया था कि नरेन्द्र के न आने पर उनका हृदय ऐसी टीस का अनुभव करता 'मानो कोई भीगे तौलिये को निचोड़ रहा हो' । फिर, कभी-कभी वे एक बालक के समान मौज में रहते तथा यदा-कदा नरेन्द्र के संशयवाद पर नाराज भी हो जाते । एक दिन यदु मल्लिक के उद्यान-भवन में नरेन्द्र ने उनसे कहा था, "तुम ईश्वर के रूप जितने देखते हो, सब तुम्हारे मन का भ्रम है ।" श्रीरामकृष्ण कहते हैं––"तब आश्चर्य में आकर मैंने उससे कहा, 'क्यों रे, वे बातचीत जो करते हैं ।' नरेन्द्र ने कहा, 'मनुष्य ऐसा ही सोचता है ।' तब माँ के पास आकर मैं रोने लगा । कहा, 'माँ, यह क्या हुआ ?–– क्या यह सब झूठ है ? नरेन्द्र ऐसी बातें कहता है ।'

तब माँ ने दिखलाया, चैतन्य—अखण्ड चैतन्य—चैतन्यमय रूप। और उन्होंने कहा, 'अगर ये बातें झूठ होंगी, तो ये सब मिलती किस तरह हैं?' तब मैंने नरेन्द्र से कहा, 'साला, तूने अविश्वास पैदा कर दिया था। तू साला अब यहाँ मत आना'।"[२०] श्रीरामकृष्ण ने जब इस घटना का वर्णन किया, उस समय कमरे में नरेन्द्र भी उपस्थित थे। यह उन ऐसे कुछ दर्शनों में से एक है, जिनमें दिव्य रूप की पहचान नहीं दी गयी है।

श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र तथा उनकी भलाई के बारे में काफी सोचा करते थे, जिसके फलस्वरूप नरेन्द्र को संकोच होता था और चिन्ता होती थी कि ठाकुर पर इसका क्या परिणाम होगा। एक दिन नरेन्द्र ने कुछ कठोरतापूर्वक राजा भरत की कथा का स्मरण कराया कि कैसे वे अपने पालतू हिरन का चिन्तन करते-करते मृत्यु प्राप्त होने के कारण अगले जन्म में स्वयं भी हिरन हो गये थे, और उन्होंने यह कथा बताकर ठाकुर को सावधान हो जाने को कहा। इसके फलस्वरूप ठाकुर बड़ी चिन्ता में पड़ गये और बोले कि यदि नरेन का कहना सचमुच ही ठीक हो, तब तो यह बड़े दुःख की बात है, क्योंकि मैं तो उसे देखे बिना नहीं रह सकता। इसी चिन्ता में डूबे वे पुनः कालीमन्दिर में जगदम्बा के पास गये और कुछ ही क्षणों बाद हँसते हुए लौटकर बोले, "अरे मूर्ख, मैं तेरी बात नहीं मानूँगा। माँ ने कहा, तू उसको साक्षात् नारायण समझता है, इसीलिए प्यार करता है; जिस दिन उसके भीतर नारायण को नहीं देखेगा, उस दिन उसका मुख देखने की भी तुझे

२०. 'वचनामृत', भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ १६२।

इच्छा न होगी ।"[२१] यह घटना हमें स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में प्राप्त होती है, जिन्होंने इसके साथ ही यह भी कहा था कि इस प्रकार ठाकुर ने अपने अलौकिक प्रेम के विरोध में उनकी सारी युक्तियाँ एक ही बात में उड़ा दी थीं।

श्रीरामकृष्ण के साथ स्वामी विवेकानन्द का अपने पहले-पहल आगमन के समय जो वार्तालाप हुआ था, उसका एक अंश लिपिबद्ध है। ठाकुर ने उन्हें बताया था कि उन्होंने (नरेन्द्र ने) रात में आकर उनको जगाया और कहा कि मैं आ गया। "परन्तु", स्वामीजी ने बताया, "मैं वह सब कुछ नहीं जानता था, मैं तो कलकत्ते के मकान में खूब खर्राटे ले रहा था।"[२२]

श्रीरामकृष्ण के दर्शनों की हम चाहे जैसी व्याख्या कर लें, पर एक व्यक्ति ऐसे थे, जो उन सबको अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक स्वीकारते थे, और वे थे श्रीयुत बलराम बोस। माँ सारदा के एक दिन के वार्तालाप से पता चलता है कि ठाकुर ने एक दर्शन में अपने इस शिष्य को सिर पर पगड़ी लगाये, हाथ जोड़े कालीमूर्ति के समीप खड़े देखा था। बलराम को जब से इस बात का पता चला, तब से उन्होंने ठाकुर के चरणों का स्पर्श कर या किसी अन्य प्रकार से उन्हें प्रणाम नहीं किया। गुरु ने शिष्य के मन की बात ताड़ ली और उन्हें चिढ़ाने अथवा परीक्षा लेने के उद्देश्य से एक दिन कहा, "बलराम, मेरे पाँव में खुजली हो रही है, जरा सा सहला दो न।" और बलराम इस पर ठाकुर के किसी सेवक को बुला

२१. 'लीलाप्रसंग', भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ ११० ।
२२. 'वचनामृत', भाग ३, तृतीय सं०, पृष्ठ ६६६ ।

लाये।[२३] श्रीरामकृष्ण ने एक दर्शन में सुरेन्द्र को देवीपुत्र के रूप में देखा था।[२४] अपने अन्तरंग शिष्यों के आने के पूर्व सम्भवतः उन्होंने और भी अनेक दर्शन पाये होंगे। उन्होंने उनमें से कइयों को बताया था कि वे भगवान् के राम, कृष्ण, ईसा आदि अवतारों में भी उनके संग आ चुके हैं, परन्तु यहाँ प्रस्तुत करने के लिए हमारे पास तत्सम्बन्धी निश्चित विवरण उपलब्ध नहीं हैं।

---

२३. 'Sri Sarada Devi', पृष्ठ ४१९।
२४. 'वचनामृत', भाग १, सप्तम सं०, पृष्ठ ६०९।

O

विवेकानन्द को प्रणाम

स्वान्तःस्थ देवत्व-विकाशको यः
स एव धर्मोऽत्र मनुष्यसेव्यः।
(स्वान्तःस्थ देवत्व-विकाशकं यत्
तत्त्वं विशुद्धञ्च तदेव धर्मः।)
इत्युक्तवन्तं जगती प्रसिद्ध-
मानन्ददं नौमि विवेकिनं तम्॥

——मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का प्रकाश ही धर्म है (अथवा अन्तर्निहित देवत्व का प्रकाशक तत्त्व ही धर्म है)——ऐसा कहनेवाले जगत्प्रसिद्ध, आनन्दप्रद उन स्वामी विवेकानन्द को मैं प्रणाम करता हूँ।

——रवीन्द्र नाथ गुरु

मानस-रोग (६/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके छठे प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

मानस-रोगों के बारे में आयुर्वेद की जो मान्यता है, उसे शारीरिक और मानसिक दोनों सन्दर्भों में जोड़ते हुए काकभुशुण्डिजी मन में रहनेवाले त्रिदोषों का वर्णन करते हैं। आयुर्वेदशास्त्र की मान्यता यह है कि मनुष्य के शरीर में जब तक वात, पित्त और कफ सन्तुलित रहते हैं, तब तक व्यक्ति स्वस्थ रहता है, पर ज्योंही उनमें असन्तुलन और अतिरेक उत्पन्न होता है, व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। काकभुशुण्डिजी मन के रोगों के सन्दर्भ में भी इन त्रिदोषों का सांकेतिक वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य के मन में रहनेवाला जो काम है, वही मानो वात है, उसके अन्तःकरण में उदित होनेवाला लोभ मानो कफ है तथा उसमें जो क्रोध की प्रवृत्ति होती है, वह मानो पित्त है। फिर इन्हीं से सम्बद्ध अन्य विकार भी मनुष्यों के अन्तर्मन में उदित होते रहते हैं। सबसे पहला नाम कामरूपी वात का लिया गया। आयुर्वेद-शास्त्र में भी वात की चिकित्सा को सबसे कठिन बताया गया है। या यों कह सकते हैं कि यद्यपि सभी मनोविकार बड़े जटिल हैं, फिर भी काम की जटिलता सबसे अधिक है। इसीलिए 'रामचरितमानस' में काम

की समस्याओं के निदान का वर्णन काम-रोग के सर्वश्रेष्ठ वैद्य—भगवान् शंकर—के चरित्र के माध्यम से किया गया है। काम की जो विकृतियाँ सामान्य मनुष्य और साधक के जीवन में दिखाई देती हैं, उनकी चिकित्सा का संकेत भगवान् शंकर के चरित्र में प्राप्त होता है। वैसे तो भगवान् शंकर समस्त मानस-रोगों के महान् वैद्य हैं, पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता इस काम-रोग को विनष्ट करने में है और इसीलिए उनके अनेक नामों में एक नाम 'कामारि' भी है—भगवान् शिव काम के शत्रु हैं, वे उसे भस्म करते हैं। उसका तात्पर्य और और स्वरूप क्या है, इस पर थोड़ा विचार करेंगे। मुझे विश्वास है कि आप उसे बिना मनोरंजन की आशा के पूरे मनोयोग से सुनेंगे, क्योंकि यह विषय अपने आप में सरस नहीं है। हो सकता है वह आपको क्लिष्ट प्रतीत हो।

तो, भगवान् शंकर द्वारा काम को भस्म करने का जो वर्णन आता है, उसके पूर्व एक कथा है, जिसमें भगवान् शंकर दण्डकारण्य में सतीजी का त्याग कर देते हैं और सतीजी अपने पिता दक्ष के यज्ञ में अपने शरीर का त्याग कर देती हैं। इस शरीर-परित्याग के पीछे तात्पर्य यह है कि कभी-कभी रोग ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि बिना शरीर के नाश के अन्य कोई उपाय नहीं रहता। सतीजी को ऐसा लगता है कि मेरा यह शरीर रखने योग्य नहीं, क्योंकि मैं इस शरीर के द्वारा भगवान् शंकर का पुनः साहचर्य प्राप्त नहीं कर सकती। ऐसा संकल्प कर वे दक्ष के यज्ञ में अपने शरीर को योगाग्नि में विनष्ट कर देती हैं और तब उनका

जन्म पार्वती के रूप में होता है। इधर भगवान् शंकर सतीजी का परित्याग करने के बाद पूरी तरह अपने में डूब जाते हैं। इसका तात्पर्य क्या हुआ? व्यक्ति में सुख-प्राप्ति की अभिलाषा अत्यन्त तीव्र होती है। पर जो लोग यह मानकर चलते हैं कि सुख केवल बाहर ही है, उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति यह होती है कि वे किसी व्यक्ति अथवा किसी पदार्थ से सुख प्राप्त करें; और जब उन्हें उस व्यक्ति अथवा पदार्थ से इच्छानुसार सुख नहीं प्राप्त होता है, तो वे अन्य व्यक्ति या वस्तु की ओर जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति जीवन भर नयी-नयी वस्तुओं तथा नये-नये व्यक्तियों में सुख की खोज करता रहता है। लेकिन भगवान् शंकर का दर्शन इसके विपरीत है। भले ही सतीजी उनकी प्रिय पत्नी थीं, पर उनके वियोग के पश्चात् वे अपनी अन्तर्मुखता में लीन हो जाते हैं। उसके माध्यम से वे मानो यह प्रकट करते हैं कि जीवन में बाहर से आनेवाला आघात यदि हमें बहिर्मुखी बना दे तो इससे बढ़कर अविवेक दूसरा नहीं होगा। वस्तुतः बाहर के आघात से हमें सीख लेनी चाहिए कि हम बाहर की ओर दौड़ना छोड़कर अपने ही अन्तर्मन में जो सुख का केन्द्र है, स्रोत है, उसे खोजने की चेष्टा करें। 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी इसी बात की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

आनँद-सिंधु-मध्य तव बासा।
बिनु जानें कस मरसि पियासा।। १३६/२

—'जीव! तेरा निवास तो आनन्द-सागर में है, फिर भी तू उसे भुलाकर क्यों प्यासा मर रहा है?' तो,

भगवान् शंकर अपनी अन्तर्मुखता में, आनन्द के केन्द्र में, समाधि में डूबे हुए हैं। वे बाहर देखने की आवश्यकता नहीं समझते। उन्हें यह नहीं लगता कि सती की मृत्यु हो गयी है तो मुझे दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। साधारणतया लोगों के जीवन में देखा जाता है कि एक वस्तु का अभाव होने पर वह दूसरी को पाना चाहता है। भगवान् शिव के अन्तःकरण में इस प्रकार की कोई भावना नहीं, कोई आकांक्षा नहीं। और तब एक बड़ा सांकेतिक प्रसंग आता है। भगवान् शंकर ने सतीजी का परित्याग भगवान् राम के प्रति अपनी भक्ति के फलस्वरूप किया था। सती ने भगवान् राम के समक्ष सीताजी का वेश बना लिया था, इसलिए भगवान् शंकर को उनका परित्याग करना पड़ा था। वही सती पार्वती के रूप में भगवान् शंकर को पुनः पाने के लिए तपस्या में संलग्न हैं। भगवान् राम चाहते हैं कि भगवान् शंकर और पार्वती का पुनर्मिलन हो। वे जानते हैं कि शंकरजी को कहीं बाहर सुख के स्रोत की खोज करने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी उन्हें लगता है कि सती की जो दुर्बलता थी वह समाप्त हो चुकी है और वे पार्वती के रूप में अपनी पवित्र साधना के द्वारा शिव को पाने के योग्य बन चुकी हैं, इसलिए यदि मेरे ही कारण दोनों में वियोग हुआ है तो मेरा कर्तव्य है कि मैं दोनों को मिलाने की चेष्टा करूँ। और तब, वर्णन आता है कि जब भगवान् शंकर समाधि में डूबे हुए थे, भगवान् राम बाहर प्रकट हो गये। इसका तात्पर्य यह कि ईश्वर केवल भीतर ही नहीं है, बाहर भी विद्यमान है। पहले मनुष्य के मन में बहिर्जगत्

के प्रति बड़ा आकर्षण होता है, आसक्ति होती है, इसलिए बाहर की आसक्ति को काटकर उससे भीतर जाने की बात कही जाती है। और एक बार जब व्यक्ति भीतर में डूब जाता है, तब अन्तिम स्थिति वह होती है जब बाहर और भीतर का भेद समाप्त हो जाता है।

व्यवहार में प्रश्न किया जाता है कि मनुष्य काम-काज करे कि राम-काज, अर्थात् व्यक्ति जीवन के कार्यों का निर्वाह करे अथवा भगवान् की भक्ति करे ? इससे ऐसा लगता है कि काम-काज और राम-काज में विरोध है। इसका उत्तर हमें 'रामचरितमानस' में मिलता है। भगवान् राम ने जब बालि का वध किया तो उसके पश्चात् सुग्रीव को तुरन्त यह आदेश नहीं दिया कि तुम सीता का पता लगाओ। सीताजी का पता लगाना यह राम-काज है। सीता साक्षात् मूर्तिमती भक्ति हैं तथा भक्ति प्राप्त करना जीवन का चरम लक्ष्य है। श्री राम बालि का वध करके सुग्रीव को सिंहासन पर बिठाकर कह सकते थे कि अब सीताजी की खोज में लग जाओ। पर वे वैसा नहीं कहते। वे जानते हैं कि अधिकारी-भेद से किसके चरित्र का विकास कैसा होगा। वे सुग्रीव से कहते हैं—तुम काम-काज करो अर्थात् राज्य करो। किस प्रकार ?—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। ४/११/९

—'तुम अपना राज्य अंगद के साथ चलाओ।' इसके माध्यम से भगवान् राम व्यवहार का, काम-काज का मूलमंत्र देते हैं। कैसे ? भगवान् राम ने कहा कि तुम किष्किन्धा का राज्य चलाओ, पर अकेले नहीं, अंगद के साथ चलाओ। भगवान् राम का यह वाक्य केवल

सुग्रीव के लिए नहीं वरन् उन समस्त लोगों के लिए महत्त्व का है, जिन्हें समाज और संसार में व्यवहार करना है। अंगद के साथ राज्य चलाना चाहिए इसका तात्पर्य क्या ? वस्तुतः श्री राम सुग्रीव और अंगद के मन की दूरी से परिचित हैं। उन्होंने एक बड़ा कार्य किया। उन्होंने किष्किन्धा का राजा तो सुग्रीव को बनाया, पर उत्तराधिकार बालि के पुत्र अंगद को दिया। इसका अभिप्राय यह कि परिवार अथवा समाज में जो आपसी टकराहट होती है, वह अपने और पराये के भेद को लेकर होती है। यदि भेद-बुद्धि न हो तो न तो परिवार में टकराहट होगी और न समाज में ही। आप अगर ध्यान से देखें तो बालि के चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता यही थी। बालि वैसे सुग्रीव से स्नेह करता था। दोनों सगे भाई थे। पर जब बालि मायावी का वध करके लौटा तो देखता है कि उसके सिंहासन में सुग्रीव बैठा हुआ है। उसकी ओर देखकर सुग्रीव को लगा कि—

देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा। ४/५/१०

—'उसके मन में भेद-बुद्धि उत्पन्न हो गयी।' यदि बालि में समत्व-बुद्धि होती तो वह सुग्रीव को सिंहासन पर बैठे देख उससे लड़ना नहीं प्रारम्भ कर देता। वह पहले उसके सिंहासन में बैठने के कारण का पता लगाता। फिर इधर सुग्रीव से भी भूल हुई। वह मन्त्रियों के कहने मात्र से सिंहासन पर बैठ गया। उसे यह प्रस्ताव रखना चाहिए था कि बालि के पुत्र अंगद को राज्य दिया जाय। इसका अभिप्राय यह कि सुग्रीव के मन में भी त्याग की वृत्ति न होकर अधिकार और स्वार्थ की

वृत्ति थी । उसने स्वयं को भुलावा देने के लिए यह सोच लिया कि मैं स्वयं तो सिंहासन नहीं चाहता हूँ, पर जब मंत्री लोग कह रहे हैं तब उसे अस्वीकार कैसे करूँ ? हम लोगों की भी यही वृत्ति होती है। हम भी कहते हैं कि हमें पद नहीं चाहिए, पर जब आप लोग पद स्वीकार कर लेने के लिए इतना आग्रह कर रहे हैं, तब आप लोगों की बात टालना भी उचित नहीं है। तो, यह सुग्रीव की स्वार्थपरता थी जो उसे सिंहासनारूढ़ कराती है। दूसरी ओर हम आदर्श के रूप में पाते हैं श्री राम और श्री भरत को। अयोध्या में भी टकराहट की सृष्टि होती है। वहाँ मन्थरा कैकेयी के अन्त:करण में भेद-बुद्धि की सृष्टि करती है । कहती है—'अपने बेटे की चिन्ता करो, पराये बेटे को सुख देने से तुम्हें क्या मिलेगा ? पराये का बेटा पराया ही रहेगा। पता नहीं उसके मन में तुम्हारे प्रति कैसी दूषित वृत्तियाँ हों । अपने बेटे को छोड़ पराये की उन्नति चाहती हो ?' मन्थरा यह भावना कैकेयी में भरने में समर्थ होती है। कैकेयी उस भेद-बुद्धि को स्वीकार कर लेती है और रामराज्य की स्थापना में यही भेद-बुद्धि बाधक हो जाती है। पर श्री राम और भरत में यह भेद-बुद्धि नहीं है, और इसीलिए वे रामराज्य स्थापित करने में समर्थ होते हैं। कैकेयी चाहती हैं कि मेरे पुत्र को राज्य प्राप्त हो और कौसल्या के बेटे को वनवास मिले। अगर भरत भी उसी दर्शन को मानते जिसे सुग्रीव मान रहे हैं, तब तो वे भी राज्य ग्रहण कर सकते थे। उनसे सभी प्रस्ताव कर रहे थे कि अयोध्या का राज्य स्वीकार कर लीजिए। पिता का वचन तो था ही। गुरु वसिष्ठ

का भी यही कहना था। माता कौसल्या भी अनुरोध कर रही थीं तथा सारा समाज भी मौन रहकर उनका समर्थन कर रहा था। तो, भरत भी कह सकते थे कि मुझे तो राज्य नहीं चाहिए, पर जब सब लोग इतना आदेश कर रहे हैं तो मैं इसे स्वीकार किये लेता हूँ। परन्तु भरत ऐसा नहीं कहते, वे तो राज्य को एकदम अस्वीकार कर देते हैं। उसी प्रकार, राज्य के हाथ से चले जाने के समाचार से भगवान् राम को दुःखी होना था, पर वे परम प्रसन्न होते हैं और कैकेयीजी से कहते हैं कि माता, तुमने भरत के लिए राज्य माँगकर मुझसे भिन्न अन्य किसी के लिए राज्य थोड़े ही माँगा है; भरत तो मेरा प्राण है—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू ।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ।। २/४१/१

——उसे राज्य मिले, इससे बढ़कर प्रसन्नता मुझे हो नहीं सकती। तो, यह भगवान् की दृष्टि है। और इसी का दूसरा पक्ष हम श्री भरत के जीवन में पाते हैं। श्री भरत स्पष्ट कह देते हैं कि अयोध्या में जो अमंगल हुआ है, उसके मिटने का एकमात्र उपाय यह है कि——

मिटइ कुजोगु राम फिरि आएँ ।
बसइ अवध नहिं आन उपाएँ ।। २/२११/६

——'जिस दिन अयोध्या के राजसिंहासन पर प्रभु प्रतिष्ठापित होंगे, तभी अमंगल मिटेगा। इसे छोड़कर अन्य दूसरा उपाय नहीं है।' बस, इसी प्रक्रिया का परिणाम होता है कि अन्ततोगत्वा रामराज्य बनता है। जब व्यक्ति और समाज के जीवन में परस्पर एक दूसरे को सुख देने की वृत्ति होती है तो आपस में टकराहट नहीं

होती। किन्तु जब दूसरों से अधिक से अधिक सुख छीनकर अपने अधिकार में करने की वृत्ति होगी तो व्यक्ति में और समाज में टकराहट होगी ही।

सुग्रीव और बालि तो सगे भाई थे। सुग्रीव भगवान् राम से यही कहते हैं--

नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई।
प्रीति रही कछु बरनि न जाई ।। ४/५/१

--'नाथ, बालि और मैं सगे भाई थे और हमारे परस्पर के प्रेम का वर्णन नहीं किया जा सकता।' फिर दोनों में टकराहट क्यों हुई?--इसलिए कि दोनों में स्वार्थपरता आ गयी। सुग्रीव की स्वार्थपरता यह थी कि उसने मंत्रियों के कहने मात्र से राज्य स्वीकार कर लिया। और बालि का दोष यह था कि वह सुग्रीव के राजसिंहासन पर बैठने का कारण बिना जाने क्रोध से भर उठता है। यदि उसमें स्वार्थपरता न होती, तो वह मान लेता कि छोटा भाई पुत्र की जगह सिंहासन पर बैठे इसमें हर्ज क्या है, छोटा भाई भी तो पुत्र की तरह है। पर वह ऐसा नहीं सोचता। उसके क्रोध का कारण यह था कि यदि मैं मर भी गया था तो मेरे बदले मेरे पुत्र अंगद को सिंहासन पर क्यों नहीं बिठाया, सुग्रीव ने क्यों उस पर अधिकार जमाया। और परिणाम यह होता है कि स्वार्थपरता के कारण बालि और सुग्रीव एक दूसरे से टकरा जाते हैं। भगवान् आकर उनमें सामंजस्य स्थापित करते हैं और उसके लिए एक नयी परम्परा का निर्माण करते हैं। वे सुग्रीव से कहते हैं कि राज्य तो तुम्हें दिया जा रहा है, पर राज्य का उत्तराधिकार बालि के पुत्र को प्राप्त होगा।

श्री राम का तात्पर्य यह था कि अगर सुग्रीव के मन में अंगद के प्रति भेदग्रन्थि बनी भी रही, तो भी वह सोचने को विवश होगा कि बालि के मरने से क्या हुआ, अन्ततोगत्वा मेरे बाद राज्य तो अंगद को ही मिलेगा और यह सोच वह उस ग्रन्थि को दूर करने का प्रयास करेगा। और अगद के मन में यदि यह ग्रन्थि बनी रही कि इसी व्यक्ति के कारण मेरे पिता का वध हुआ, तो यह सोचकर उसे सान्त्वना मिलेगी कि अन्त में राज्य उसे ही प्राप्त होगा। भगवान् के सुग्रीव को दिये इस आदेश ने कि 'अंगद सहित करहु तुम्ह राजू'—अंगद के मन में विश्वास का संचार किया। इस तरह भगवान् राम के पूरे चरित्र में हम पाते हैं कि वे लोगों की मनोग्रन्थियों की चिकित्सा कर उन्हें रोगमुक्त करना चाहते हैं। सुग्रीव और अंगद दोनों मनोग्रन्थि से पीडित हैं और इसका परिणाम आगे चलकर दिखाई पड़ता है। सुग्रीव अंगद के प्रति उतनी उदारता नहीं दिखा पाते हैं जितनी उन्हें दिखानी चाहिए थी। और अंगद भी सुग्रीव को वह आदर नहीं दे पाते हैं जो उन्हें देना चाहिए था। भगवान् राम सुग्रीव को मंत्र देते हैं कि अंगद के साथ राज्य करो अर्थात् भेद-बुद्धि समाप्त कर उदारता के साथ राज्य चलाओ। साथ ही श्री राघवेन्द्र एक महामंत्र यह भी देते हैं कि यह न समझ लेना कि व्यवहार ही जीवन का चरम लक्ष्य है, राज-काज में ही न लग जाना, राज-काज के साथ अभी एक काज और करना है—

संतत हृदयँ धरेहु मम काजू ।। ४/११/९

—'मेरे काज का हृदय में सदा ध्यान रखना।' राज-

काज में राम-काज को मत भूल जाना। वस्तुतः जिसे हम राम-काज कहते हैं, वह भी जीव का ही काज है। सीताजी की---भक्तिदेवी की---खोज करना यह जीव का ही कार्य है, न कि श्री राम का । पर श्री राम इतने उदार हैं कि वे उसे अपना ही कार्य मान लेते हैं और कहते हैं---मेरे कार्य का ध्यान रखना । अब आप विचार करके देखिए---यह जो सीताजी की, भक्ति या शान्ति की उपलब्धि है, वह तो जीव के स्वयं के लिए कल्याणकारी है। यदि हम भक्ति या शान्ति की खोज में चलते हैं, तो उससे हम ईश्वर पर उपकार नहीं करते । पर ईश्वर इतने उदार हैं कि कहते हैं कि सीताजी का पता लगाना मेरा कार्य है, इसलिए राज-काज के साथ मेरे काज का भी ध्यान रखना। पर होता क्या है ? सुग्रीव प्रारम्भ में दोनों ही कार्यों में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं । उन्होंने राम-काज की ओर तो ध्यान दिया ही नहीं, बल्कि बहुत दिनों तक भोगों से दूर होन के कारण भोगों में ऐसे लिप्त हुए कि राज-काज भी भूल गये । यह भी भूल गये कि अंगद के प्रति ऐसा व्यवहार न हो कि प्रभु रुष्ट हो जायँ। अंगद के प्रति सहज सौहार्द्र उनके मन में नहीं था और अंगद के मन में भी सुग्रीव के प्रति वैसी ही वृत्ति थी। सुग्रीव काम-रस में डूबकर भक्ति के मूल श्री राम को भूल गये। जीवन में सब कुछ पाकर कहाँ व्यक्ति के जीवन में ईश्वर के प्रति भक्ति आनी चाहिए, कृतज्ञता का भाव आना चाहिए, पर सुग्रीव के साथ सब उल्टा होता है। जब कोई व्यक्ति हमें भेंट देता है तो उसके प्रति हमारे मन में कृतज्ञता का भाव जागता है कि

इन्होंने हमें अमुक भेंट दी तो बदले में हम भी उन्हें कुछ दें। इसी प्रकार ईश्वर ने जीव को जीवन दिया, शरीर दिया तथा जो कुछ भी उसके पास है सब उन्हीं ने दिया। अतः जीव के अन्तःकरण में ईश्वर के प्रति कृतज्ञता का भाव आना चाहिए कि जिन ईश्वर ने हमारे लिए इतना किया, हमें भी उनके लिए कुछ करना चाहिए। पर जीव की दशा सुग्रीव की दशा जैसी है। वह ईश्वर की दी हुई भेंटों को स्वीकार तो कर लेता है, पर भोगों में डूबकर उन्हें भूल जाता है। जब सुग्रीव ईश्वर को भूल गये तो ईश्वर ने लक्ष्मण से कहा—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी।
पावा राज कोस पुर नारी॥ ४/१७/४

—'सुग्रीव ने भी मेरी सुध भुला दी। राज्य, कोष, नगर और स्त्री पाकर वह मत्त हो गया।' अतः मैंने निर्णय किया है कि—

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥ ४/१७/५

—'जिस बाण से मैंने बालि को मारा था, उसी बाण से कल उस मूढ़ को मारूँगा।' भगवान् का यह बाण कौन सा है? गोस्वामीजी से पूछा गया कि भगवान् का धनुष-बाण किसका बना है—हड्डी का कि सोने का अथवा चाँदी का? गोस्वामीजी ने कहा कि यह न हड्डी का है, न सोने का और न चाँदी का। वे लंकाकाण्ड के प्रारम्भ में लिखते हैं—

लव निमेष परमानु जुग बरस कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु को दंड॥ ६/०

यह काल ही श्री राम का, ईश्वर का धनुष है और घण्टा, दिन, महीना, वर्ष, युग और कल्प के रूप में समय का जो विभाजन है—वही उनका बाण है। तात्पर्य यह कि कालरूपी धनुष से समयरूपी बाण चल रहा है और लोग नाश को प्राप्त हो रहे हैं। जब व्यक्ति भगवान् के किये गये उपकारों को भुलाकर भोग में डूब जाता है तब भगवान् काल का स्मरण करते हैं। भगवान् राम के पास काल के कई प्रतीक हैं—धनुष-बाण भी काल है और उनके छोटे भाई लक्ष्मण भी काल के प्रतीक हैं। जब भगवान् ने कहा—

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।। ४/१७/५

—"लक्ष्मण, बाण ले आओ। उससे मैं मूढ़ का नाश करूँगा", तो लक्ष्मणजी ने कहा,—"प्रभो! बाण की क्या आवश्यकता है? मैं ही चला जाता हूँ। और फिर यह काम कल के लिए क्यों टाला जाय? मैं अभी जाकर सुग्रीव को मारकर चला आता हूँ।" भगवान् ने यह सुनकर कहा, "भई, काल का उद्देश्य केवल मारना ही थोड़े है?" तो क्या है? श्री राघवेन्द्र अनन्त कालस्वरूप लक्ष्मण से कहते हैं—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।। ४/१८

—"भय से भी कार्य बन जाता है। इसलिए सुग्रीव को भय दिखाकर ले आओ।" भले ही व्यक्ति ईश्वर की याद न करे, पर मृत्यु का भय उसे ईश्वर की याद दिला देता है। लक्ष्मणजी चल पड़े। अंगद ने कहीं से सुन लिया कि लक्ष्मणजी सुग्रीव को दण्ड देने के लिए आ रहे हैं।

यहीं उनकी मनोग्रन्थि का पता चलता है। होना तो यह चाहिए था कि वे शीघ्र सुग्रीव के पास जाते और उन्हें बताते कि लक्ष्मणजी दण्ड देने आ रहे हैं इसलिए वे शीघ्र जाकर उनसे क्षमा माँगें। पर वे ऐसा नहीं करते और मन ही मन सोचते हैं कि चलो, अच्छा ही हुआ—मेरे पिता को अपराध के कारण प्रभु ने दण्ड दिया था, अब इन्हें दण्ड मिलेगा लक्ष्मणजी के हाथों। अंगद ने सामूहिक रूप से समाज या राज्य की चिन्ता नहीं की। उन्हें चिन्ता थी अपने आपको बचाने की। इसलिए वे लक्ष्मणजी के चरणों में आकर गिर पड़े। कहने लगे—महाराज, मेरा तो कोई दोष नहीं; राजा तो सुग्रीव हैं, सीताजी का पता लगाने में यदि विलम्ब हुआ तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं। लक्ष्मणजी ने मुसकराकर कहा—ठीक है, ठीक है, और यह कह उन्होंने उसे अभयदान दिया—

लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्ही। ४/१९/१

यहाँ पर हनुमान्‌जी और अंगद की भूमिका का अन्तर प्रकट हो जाता है। हनुमान्‌जी भी चाहते तो पहले आकर लक्ष्मणजी से सुग्रीव के भूलों का वर्णन कर सकते थे। पर जहाँ अंगद लक्ष्मणजी के मन में सुग्रीव के प्रति रोष को बढ़ाना चाहते हैं, वहाँ हनुमान्‌जी सुग्रीव के प्रति, जीव के प्रति लक्ष्मणजी क रोष को शान्त कर दण्ड के स्थान पर भय के द्वारा उसे सीताजी की खोज म लगाना चाहते हैं। हनुमान्‌जी ने जब सुग्रीव को काल का भय दिखलाया तो सुग्रीव के मुँह से अब एक ही बात निकलने लगी—

राम काजु अरु मोर निहोरा ।
बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ।। ४/२१/६

—वानरो, यह भगवान् राम का कार्य है तथा इसमें मेरा कल्याण है, अतः बाकी का काम-काज छोड़कर अब राम-काज में लग जाओ । और बन्दर राम-काज में लग गये ।

सीताजी की खोज ही राम-काज है । हनुमान्‌जी के चरित्र में राम-काज का यह महामंत्र बार-बार परिलक्षित होता है । जब वे सीताजी की खोज में चल पड़ते हैं तो रास्ते में मैनाक पर्वत पड़ता है । मैनाक ने कहा, "मैं तुम्हारे पिता का मित्र हूँ और इस प्रकार तुम मेरे पुत्र की भाँति हो । यहाँ आकर थोड़ा विश्राम कर लो ।" हनुमान्‌जी ने तुरन्त कहा—

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम ।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम ।। ५/१

—'श्री राम का कार्य किये बिना मुझे कोई विश्राम नहीं है ।' हनुमान्‌जी जब आगे बढ़े तो सुरसा मिली । सुरसा ने कहा—मुझे भूख लगी है, आकर मेरे मुँह में पैठ जाओ । हनुमान्‌जी ने कहा—नहीं, अभी नहीं । तो कब ?—

राम काजु करि फिरि मैं आवौं । ५/१/४

—'पहले मैं श्री राम का कार्य करके आ जाऊँ ।' तात्पर्य यह कि हनुमान्‌जी के चरित्र में राम-काज छोड़कर और कुछ नहीं है । और जब वे प्रभु का कार्य करके लौटते हैं, तो प्रत्येक बन्दर को यह सोचकर धन्यता का अनुभव होता है कि—

कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा । ५/२७/४

—'हनुमान्‌जी भगवान् राम का कार्य करके लौटे हैं।' फिर इसके पश्चात् लंका के राक्षसों से युद्ध होता है। तात्पर्य यह कि सीताजी को, भक्तिदेवी को पाने के लिए राक्षसों से, दुर्गुणों से लड़ना होगा। वैसे तो बन्दरों ने भगवान् राम को पहले ही पा लिया था, पर श्री राम को पाने के बाद भी राम-राज्य तब बना जब रावण का नाश हुआ और सीताजी लंका से लौटायी गयीं। इसका तात्पर्य यह कि जीवन में परिपूर्णता ईश्वर की उपस्थिति से ही नहीं आती, बल्कि तब आती है जब समस्त दुर्गुणों के विनाश के पश्चात् चरम शान्ति की उपलब्धि होती है। तभी व्यक्ति के जीवन में समग्रता आती है। इसलिए राम को पाने के बाद भी दुर्गुणों से लड़ना होगा, लंका में युद्ध करना होगा। और बन्दर यह कार्य करते हैं। इस प्रकार राम-काज पूरा होता है। श्री सीताजी और श्री राम का मिलन होता है। फिर दोनों अयोध्या के सिंहासन पर बैठे। और बन्दर भी राम-काज में ऐसे मग्न हुए कि दुनिया का सारा काम-काज भूल गये। और तब भगवान् राम ने एक दिन उनसे कहा—

अब गृह जाहु सखा सब (७/१६)

—'मित्रो! अब सब अपने-अपने घर जाओ।' बन्दर यह सुन बड़े चक्कर में पड़े। घर-बार का सारा काम-काज छोड़कर वे राम-काज में लगे थे। अब प्रभु ही कहते हैं कि घर जाओ। पर प्रभु के इस कथन के पीछे एक नया दर्शन है, एक अभिनव सन्देश है। भगवान् राम का तात्पर्य था कि पहले तुम संसार के काम-काज में लगे थे, फिर राम-काज में लगे और अब जब घर जाओगे

तो संसार के काम-काज में डूब मत जाना। बन्दरों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि फिर हम घर जाकर क्या करेंगे। भगवान् घर भी भेज रहे हैं और कहते हैं कि घर के काम-काज में मत डूबना। भगवान् न कहा—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। ७/१६

—'घर जाकर दृढ़ नियम से मुझे भजते रहना।' बन्दरों को यह बात और भी आश्चर्यजनक लगी। यदि श्री राम कहते कि घर जाकर संसार का काम-काज करो, तो बात समझ में आती है। और यदि कहें कि यहाँ रहकर मेरा भजन करो, तब भी ठीक था। पर घर लौटकर भगवान् का भजन करने की बात बन्दरों को जमी नहीं। सोचने लगे कि घर में जाने पर तो सांसारिक कर्मों में लिप्त हो जाएँगे, तब फिर दृढ़ भाव से भगवान् का भजन कैसे होगा? प्रभु उनकी शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—

सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम।।७/१६

—'मुझे सदा सर्वव्यापक और सबका हित करनेवाला जानकर अत्यन्त प्रेम करना।' प्रभु का तात्पर्य था कि अभी तक तुम्हें अपना परिवार अपना प्रतीत होता था, सुहृदजन अपने प्रतीत होते थे, पर अब तुम सर्वत्र, सबमें मुझे ही देख पाओगे। संसार का काम-काज, राम-काज से भिन्न नहीं होगा। काम-काज और राम-काज दोनों एक हो जाएँगे। बन्दरों ने प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य की और लौट गये। बन्दरों में केवल दो पात्र ऐसे थे, जिन्होंने जाने से इन्कार कर दिया। एक थे हनुमान्‌जी। उन्होंने तो सोच ही लिया था कि मेरे कोई घर तो है

नहीं, अतः काम-काज का प्रश्न ही नहीं उठता, यह सारा जीवन यहीं प्रभु-सेवा में व्यतीत होगा। और दूसरे पात्र थे अंगद जो मानसिक ग्रन्थि से ग्रसित थे । वे भगवान् राम को बालि की याद दिलाते हुए बड़ी करुण प्रार्थना करते हैं, कहते हैं—

मरती बेर नाथ मोहि बाली ।
गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली ।। ७/१७/२

—'नाथ ! मरते समय पिता बालि ने मुझे आपकी ही गोद में डाला था ।' फिर आगे कहते हैं—

असरन सरन बिरदु संभारी ।
मोहि जनि तजहु भगत हितकारी ।।
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता ।
जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता ।।
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा ।
प्रभु तजि भवन काज मम काहा ।।
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना ।
राखहु सरन नाथ जन दीना ।।
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ ।
पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ ।।
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही ।
अब जनि नाथ कहहु गृह जाही ।। ७/१७/३-८

—'हे भक्तों के हित करनेवाले ! आप अशरण-शरण का बाना याद करके मुझे त्यागिए नहीं । आप ही मेरे स्वामी, गुरु, पिता और माता सभी कुछ हैं । आपके चरण-कमलों को छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ ? प्रभो ! आप ही विचार कर कहिए कि आपको छोड़कर घर में मेरा क्या काम है ? हे नाथ ! इस ज्ञान, बुद्धि और बल से

हीन बालक तथा दीन सेवक को शरण में रखिए । मैं घर की सब निम्न से निम्न सेवा करूँगा और आपके चरण-कमलों को देख-देखकर भवसागर से तर जाऊँगा । ऐसा कहकर वे भगवान् राम के चरणों में गिर पड़े और बोले—प्रभो ! मेरी रक्षा कीजिए । हे नाथ ! अब यह न कहिए कि तू घर जा ।'

अंगद की भाषा और उनकी भावना इतनी सुन्दर है कि उसे पढ़कर पढ़नेवाले का हृदय गद्गद हो जाता है । पर भगवान् राम उनसे विचित्र रूप से व्यवहार करते हैं । अंगद के विनम्र वचनों को सुनकर वे उन्हें उठाकर हृदय से लगा लेते हैं, पर उन्हें रुकने के लिए नहीं कहते, वरन् माल्याभूषण, वस्त्र, मणि आदि पहनाकर उनकी बिदाई करते हैं । ऐसा क्यों ? इसलिए कि अंगद की इस भक्ति के पीछे जो मनोग्रन्थि है, उसे प्रभु समझ जाते हैं । अंगद के वापस नहीं लौटने के दो कारण थे—एक था भगवान् के प्रति आदर की वृत्ति और उससे बड़ा कारण था सुग्रीव के प्रति आशंका की वृत्ति । उन्हें लगता था कि बालि के पुत्र होने के नाते सुग्रीव की उनके प्रति दुर्भावना है । यदि मैं सुग्रीव के पास रहूँगा तो आपस में टकराव होगा । सुग्रीव राजा के रूप में मुझे अनिष्ट पहुँचाने की कोशिश कर सकते हैं । फिर भगवान् राम द्वारा अंगद को युवराज पद पर आसीन करने की बात सुग्रीव को अखर रही होगी और वे चाहेंगे कि किसी प्रकार रास्ते के इस काँटे को दूर करें । भगवान् राम अंगद के भीतर की मनोग्रन्थि से यह पूरी तरह समझ गये थे कि यह मेरे पास रहने के अनुपयुक्त है । यदि कोई बढ़िया भवन बनाना चाहे और उसकी

नींव दुर्बल हो, तो वह भवन किसी काम का नहीं होगा। अंगद अपनी जिस भक्ति का भवन बनाने जा रहे थे, वहाँ कहीं न कहीं द्वेष की भूमिका थी। उन्होंने और एक बात भगवान् राम के सम्मुख कह दी, जिससे उनके चरित्र की कमी प्रकट हो गयी। उन्होंने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा——

नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। ७/१७/७

——'आपकी नीच से नीच सेवा करने के लिए भी मैं तैयार हूँ।' प्रभु समझ गये कि जिसे सेवा में ऊँच और नीच दिखाई दे, वह उसकी बड़ी कमी है। जिसे यह दिखाई दे कि यह सेवा ऊँची है और वह नीची, तो वह जिसे नीची समझेगा उसे करेगा नहीं और यदि करेगा तो मन में गर्व पालेगा कि मैं कितना महान् हूँ कि ऐसी नीच सेवा करने में भी कुण्ठित नहीं होता! ईश्वर की तो प्रत्येक सेवा ही महान् है। इसलिए अंगद की बात सुन प्रभु निर्णय लेते हैं कि मनोग्रन्थि के नाश के लिए इसका लौटना आवश्यक है। अंगद को वापस भेजने में प्रभु का दूसरा कारण भी था—वह था सुग्रीव को सावधान करना। सुग्रीव में जो कमी रह गयी थी, अंगद के प्रति द्वेष-बुद्धि थी, उसे दूर करना। अंगद के प्रार्थना करने पर प्रभु उन्हें उठाकर हृदय से लगा लेते हैं और एक अनोखा कार्य करते हैं——

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
७/१८ (ख)

——वे अपने गले से माला उतारकर अंगद के गले में पहना देते हैं। यह मानो अंगद के लिए आश्वासन था और सुग्रीव के लिए चेतावनी। इस माला के द्वारा

उन्होंने अंगद को अभयदान दिया कि अब डरने की कोई आवश्यकता नहीं। यह माला देखकर ही सुग्रीव को समझ में आ जाएगा कि इस माला का अर्थ क्या है। सुग्रीव के गले में तो भगवान् ने फूलों की माला पहनायी थी, जो कुम्हला जाती है। पर यह माला मणि की माला है, जो सदा एकरस रहेगी। और इस माला को देखकर सुग्रीव को याद आ जाएगा कि माला की अवहेलना करने पर जैसे बालि को प्राणदण्ड मिला, वैसे ही यदि मैं अंगद को कष्ट देने की चेष्टा करूँगा तो मेरी भी वही दशा होगी। भगवान् राम को लगता है कि अंगद घर जाकर मेरा अधिक स्मरण कर सकेंगे। व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—एक को सामीप्य में अधिक रसोत्पत्ति होती है और दूसरे को सामीप्य में धीरे-धीरे रसाभास हो जाता है। यही हनुमान्‌जी और अंगद के स्वभास की भिन्नता है। हनुमान्‌जी ऐसे हैं कि प्रभु के समीव रहकर भी उनकी रसानुभूति में कमी नहीं आतीप बल्कि वह बढ़ती ही रहती है, जबकि अंगद के जीवन, में यह सम्भावना अधिक है कि वे ईश्वर से दूर रहकर उनके रस की स्मृति में अधिक से अधिक डूबेंगे। इसीलिए भगवान् राम उन्हें लौटा देते हैं। और इस प्रकार श्री राघवेन्द्र काम-काज और राम-काज में एक व्यवहारगत तथा चरित्रगत सामंजस्य प्रस्तुत कर जीव की मनोग्रन्थि का छेदन करते हैं।

(क्रमशः)

○

स्वामी तुरीयानन्दजी के संस्मरण

स्वामी यतीश्वरानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी यतीश्वरानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के एक वरिष्ठ महा-उपाध्यक्ष थे। उनका यह प्रस्तुत लेख मूल बँगला में स्वामी जगदीश्वरानन्द द्वारा लिखित बँगला पुस्तक 'स्वामी तुरीयानन्द' में भूमिका के रूप में छपा है, जहाँ से वह साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक हैं स्वामी वागीश्वरानन्द, जो रामकृष्ण मठ, नागपुर में कार्यरत हैं।—स०)

सन् १९११ ई. के आरम्भ में बेलुड़ मठ में मुझे पूजनीय स्वामी तुरीयानन्दजी के प्रथम दर्शन मिले। उस समय मैं साधु होने के लिये प्रयत्नशील था। इसके पहले तुरीयानन्दजी के कठोर त्याग एवं तपस्या के बारे में उनके गुरुभाइयों से बहुत कुछ सुना था। प्रथम दर्शन से ही मैं उनके प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुआ। मठ में आने पर मैं उनके साथ धर्म-विषयक वार्तालाप तथा उनकी सेवा आदि करने का अवसर ढूँढ़ा करता। किन्तु वे इतने स्वावलम्बी एवं स्वाधीन स्वभाव के थे कि बीमार होन पर भी सहज में दूसरे की सेवा लेने को राजी नहीं होते थे। अवश्य कभी कभी वे कुछ मामूली सी सेवा ग्रहण करते, किन्तु वह अधिकांश इच्छा न रहने हुए ही।

साधु होने के लिए वे मुझे खूब उत्साह देते तथा समय-समय पर स्वामीजी (विवेकानन्दजी) का यह वचन कहते—'Young men of Bengal, to you I specially appeal' (बंगाल के नवयुवको, तुम लोगों से मैं विशेष रूप से विनती करता हूँ)! वे कहते, "स्वामीजी तुमसे कितनी आशा रखते थ। तुम-जैसे अनेक युवक उनके द्वारा प्रवर्तित सेवाधर्म को स्वीकारेंगे। तुम लोग साधु बनकर उनका कार्य करते हुए धन्य हो जाओ।"

उसी साल अक्तूबर में पुरीधाम में पुनः स्वामी तुरीयानन्दजी के दर्शन का सौभाग्य मिला। उस समय मैं पुरी में पूज्यपाद ब्रह्मानन्द महाराज के सान्निध्य में जाकर संघ में प्रविष्ट हुआ था और उन लोगों के साथ 'शशि-निकेतन' में रह रहा था। उनके पावन संग में मैंने एक महीने से अधिक समय बिताया। इसके बाद मुझे मद्रास मठ भेजा गया। पुरी में हरि महाराज (तुरीयानन्दजी) ने मुझे पहले शंकराचार्य के प्रकरण-ग्रन्थ पढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया। वहाँ सरकारी उच्च अधिकारी श्री अटल बिहारी मैत्र के मकान पर उस साल श्री जगद्धात्री-पूजन का आयोजन हुआ। महाराज ने मुझे पूजक चुना तथा पूजा के पहले मुझे अम्बिकानन्दजी से अच्छी तरह से पूजा-पद्धति सिखला दी। उस पूजा में हरि महाराज प्रमुख तन्त्रधारक (सहायक पुजारी) तथा स्वामी अम्बिकानन्द सहकारी तन्त्रधारक थे। ब्रह्मानन्द महाराज भी पूजा में उपस्थित थे। जगद्धात्री-पूजा बड़ी विस्तृत पूजा है और कई घण्टे तक चलती है। इतनी लम्बी पूजा मैं पहली बार कर रहा था। आनुष्ठानिक पूजा के दीर्घ न्यास आदि करने में अभ्यस्त न होने के कारण मुझे बीच-बीच में बड़ी थकावट आ रही थी। परन्तु ध्यान के समय मुझे आनन्द मिल रहा था, इसलिए मैं कुछ अधिक समय तक ध्यान कर रहा था। हरि महाराज ने एक-दो बार यह बात देखी, फिर दृढ़ स्वर से कहा, "ध्यान हो चुका, अब पूजा शुरू करो।"

यथासमय माता की पूजा आरम्भ हुई। थोड़ी देर में औपचारिक पूजा करते हुए मन में कुछ अवसन्नता आयी। परन्तु ध्यान का समय आते ही वह दूर हो

गयी। मैं आनन्दपूर्वक ध्यान कर रहा था। काफी समय हो जाने पर भी यह बात मेरे ख्याल में नहीं आयी। इस बार हरि महाराज पहले से अधिक कठोर तथा कुछ तिरस्कारपूर्ण स्वर से बोल उठे, "ध्यान बहुत हो चुका, अब पूजा शुरू करो।" इसके बाद साधारण पूजा तथा कुमारी-पूजा समाप्त हुई। जो जो पूजा में रत थे, वे सभी जलपान करने बैठे। हरि महाराज ने प्रेम के साथ अपनी थाली में से अच्छी अच्छी चीजें उठाकर मेरी थाली में रख दीं। पूजा के समय उनकी झिड़की के कारण मेरे मन में जो थोड़ा कष्ट हुआ था, वह अब मिट गया तथा उनकी इस कृपा स मन आनन्द से भर उठा।

पूजा के समाप्त होने पर हम सब 'शशि निकेतन' लौट आये। हरि महाराज ने मुझे बुलाकर कहा, "पूजा के समय तुममें जो ध्यान का भाव आया था वह उत्तम है। परन्तु तुम्हारे अधिक ध्यान करने से पूजा, भोग, भक्तों का प्रसाद-ग्रहण आदि समाप्त होने में बड़ी देर हो जाती। और यह किसी हालत में उचित नहीं है।" उन्होंने और भी कहा, "जानते हो हमारा आदर्श क्या है? जिस समय ध्यान करने की इच्छा हो उसी समय कमरे के अन्दर जाकर बाहर का दरवाजा बन्द करके ध्यानमग्न हो जाएँ। फिर आवश्यकता होते ही ध्यान छोड़ सहज रूप से बाहर आकर काम करने लगें।" साधु जीवन के उच्च आदर्शों का अनुसरण करने के लिए वे मुझे खूब उत्साह देते थे। मेरे मद्रास जाने के पहले उन्होंने और महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) ने सलाह करके मुझे ब्रह्मचारी नित्यचैतन्य नाम दिया तथा खूब आशीर्वाद दिया। जब से स्वामी तुरीयानन्द के दर्शन हुए थे, तभी

से उनके पावन संग में रहते हुए उनकी सेवा करने की आन्तरिक इच्छा मैं मन में पोषित करता आ रहा था। इस इच्छा को पूर्ण करने का सुवर्ण सुयोग १९२० की मई में आया। श्री माताजी (सारदादेवी) उस समय बाग-बाजार मठ में अन्तिम व्याधि से शय्या पर पड़ी थीं। मैं सबेरे काशी पहुँचा और तीसरे प्रहर हरि महाराज के दर्शन को गया। महाराज ने स्वयं ही कहा, "तुम मेरे पास ही क्यों नहीं रह जाते ? सनत् माताजी के दर्शन करने कलकत्ता जा रहा है।" उस समय से लेकर १९२१ के मार्च तक महाराज के पावन संग एवं सेवा का अधिकार पाकर मैं धन्य हुआ। समय-समय पर मैं हरि महाराज के साथ खूब धर्मप्रसंग किया करता। एक दिन मैं उनके साथ चर्चा कर रहा था। मेरी ऐसी धारणा थी कि आत्मसमर्पण करना उतना कठिन नहीं है। परन्तु हरि महाराज ने कहा, "ठीक ठीक आत्मसमर्पण तभी किया जा सकता है, जब ठाकुर की उपमा के मस्तूल पर के पक्षी की तरह उड़-उड़कर दोनों पंख इतने थक जाएं कि उड़ने की शक्ति ही न रह जाए। प्राणपण से प्रयत्न करने के बाद जब साधक देखता है कि उसमें अब प्रयत्न करने की सामर्थ्य नहीं रह गयी, तभी उसमें ठीक ठीक शरणागति का भाव आता है।"

पूजनीय हरि महाराज सदा अपने सेवकों के सर्वांगीण—विशेषत: आध्यात्मिक—कल्याण की चिन्ता करते तथा उनके लिए दायित्व या जिम्मेवारी भी खूब अनुभव करते थे। कभी-कभी वे कहते, "ये लोग मेरे शरीर की सेवा करते हैं और मैं इनके मन की सेवा करता हूँ।" कभी-कभी विभिन्न कारणों से हम अपना मन

बिगाड़ लेते और अपनी अज्ञता के कारण उनको चिन्तित कर बैठते। कभी तो वे भी चिढ़कर कह उठते, "कभी कभी तुम्हारे मन की सेवा करने जाकर मेरे प्राण निकलने लगते हैं।" हमारे मन उच्च स्वर में बँधे रहें, भगवद्भाव से पूर्ण रहें तथा हम लोग आनन्द में रहें, इस ओर वे बहुत ध्यान रखते थे। उनका एक सवक उन पर अत्यन्त अनुरक्त था। उसे वे समय समय पर खूब फटकारते थे। इसका उद्देश्य हमें यह प्रतीत होता कि सेवक उनके ऊपर से मन को हटाकर अपना वह प्रेम ईश्वर को समर्पित कर सके। सन्ध्या के उपरान्त सेवाश्रम के स्कूल में वे सोने के लिए जाते थे। एक सेवक को रात भर उनके पास रहना पड़ता था। एक दिन मुझ पर रात के समय उनके पास रहने की बारी आयी। स्वयं न जा मैंने उसी सेवक को जाने के लिए कहा। मेरे कहने के अनुसार वह सेवक गया और हरि महाराज की डाँट खाकर लौट आया। फिर भी खुद न जाकर मैंने और एक सेवक से जाने की विनती की और कहा, "मैं उनके पास जाकर डाँट नहीं खाना चाहता।" दूसरा सेवक उनके पास जाकर रात भर रहा। दूसरे दिन भोर में मुझे हरि महाराज की सेवा के लिए जाना पड़ा। मुझे देखते ही वे कह उठे, "कल रात को यह सुनकर कि तुम मेरे पास आने में घबरा रहे थे, मेरा हृदय कसक उठा।" वे किसी का कोई दोष दूर करने के लिए प्रयोजनवश उसे फटकारते थे, किन्तु इससे यदि दूसरा कोई भयभीत होता तो इस प्रकार स्नेह-स्पर्श देते हुए उसे आश्वस्त करते थे।

पूजनीय हरि महाराज इस समय बहुमूत्र रोग से पीड़ित थे। एक दिन मैं उनका शरीर दबा रहा था।

असावधानता के कारण मेरे हाथ का नाखून लगकर उनके शरीर की थोड़ी-सी खाल निकल आयी। मैंने सोचा कि वे इसके लिए मुझे फटकारेंगे। परन्तु इसकी तनिक भी परवाह न करते हुए उन्होंने एक दूसरे सेवक से कहा, "इस जगह पर थोड़ा अलकोहल लगा दो।" फिर मेरी ओर देखते हुए बोले, "बीमारी से मेरा शरीर बिलकुल सड़ गया है।"

डाक्टर की सलाह के अनुसार उन दिनों हरि महाराज ठण्डा शरबत आदि लेते थे। बादाम और पिस्ता पीसकर उसमें कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर शरबत बनाया जाता। उस समय मैं ही उनके लिए शरबत बनाता। एक दिन शरबत पीकर उन्होंने कहा, "आज क्या पर्याप्त कालीमिर्च नहीं मिलायी ? मन लगाकर काम नहीं करते।" मैंने अच्छा शरबत बनाने का भरसक प्रयत्न किया था। उनका अभिप्राय सुनकर मेरा मन बिगड़ गया। वे यह समझ गये और मुझसे कहा, "इस छोटी-सी बात से हीं मन को बिगाड़ बैठे ?"

उन दिनों हरि महाराज की देह का तापमान अस्वाभाविक रूप से अधिक रहा करता था। डॉक्टर ने रात्रि के दूसरे प्रहर के बाद तापमान देखने के लिए कहा था। हरि महाराज ने मुझसे कह रखा था, "ताप लेते समय तुम्हें पुकारूँगा।" सोने के पहले मैंने अपने मन को आदेश दे रखा, 'महाराज के पुकारते ही तुझे उठना होगा।' रात के एक बजे हरि महाराज ने मुझे पुकारा। मैं झट उनके पास गया और सावधानी से उनका ताप देखने लगा। उन्होंने मुझसे पूछा, "नींद का असर है क्या ?" मैंने उत्तर दिया, "जी नहीं, महाराज।" मेरी

इस प्रकार की चटपट सेवा से वे विशेष प्रसन्न हुए, किन्तु उसी समय बोल उठे, "इसके लिए गर्व मत करना ।"

एक दिन सबेरे देखा कि जिस सेवक को हरि महाराज बहुत डाँटते थे, वह बारिश में सर पर से कम्बल ओढ़े सेवाश्रम के कार्यालय की ओर जा रहा है। इसके बाद काफी समय बीत गया, पर वह नहीं लौटा। तब हरि महाराज उसके लिए बड़े ही चिन्तित हो उठे। कहने लगे, "देखो तो यह लड़का किधर गया ? क्या वह कहीं और चला गया या आत्महत्या कर ली ? उसके लिए मन में बड़ी चिन्ता हो रही है। तुम किसी को साथ लेकर उसे ढूंढ़ निकालो और अपने साथ ले आओ।" उनकी इस युक्ति पर से समझ में आता है कि उस सेवक को वे कितना चाहते थे तथा उसके लिए कितनी कल्याण कामना करते थे। मैं दो-तीन लोगों को साथ लेकर उसे ढूंढ़ते हुए गंगा के किनारे गया। वहाँ जाकर देखा कि वह घाट पर शान्त बैठा हुआ ध्यान कर रहा है। उसके दुःख का कारण मैं जानता था। इसलिए उसे और थोड़ी देर शान्त चित्त से बैठे रहने का अवसर देने के इरादे से मैं सेवाश्रम लौट आया, क्योंकि हरि महाराज के स्नान का समय हो गया था और मुझे उनके पास रहना था। घाट पर जो दूसरे साधु थे, उनसे मैं कह आया था कि वे उस सेवक को अपने साथ हरि महाराज के पास ले आएँ। मुझे सेवाश्रम में अकेले ही लौटते हुए देख महाराज ने पूछा, "वह कहाँ है ?" मैंने सारा समाचार कह सुनाया। मझ पर सेवक को साथ ले आने का आदेश था, किन्तु उसका पालन न

करके मैं अपनी बुद्धि चलाकर उसे गंगातट पर दूसरे साधुओं के भरोसे छोड़ आया था । इससे हरि महाराज बहुत बिगड़े और मुझे अत्यन्त कठोरता से डाँटने लगे । तब मैं घबड़ा गया । यह देखकर महाराज ने अत्यन्त शान्त भाव से अँगरेजी में कहा, "Don't you feel nervous" (तुम घबड़ाओ मत)। तब मैंने अपने आपको थोड़ा सम्हाला, किन्तु पुनः उनकी डाँट-फटकार की बौछार शुरू हो गयी। उनका यह तरीका देख मैं तो दंग रह गया । बाहर उनका जो क्रुद्ध भाव दिखाई दे रहा था, वह ऊपर-ऊपर का था । उसके पीछे अत्यन्त गहरा शान्त भाव विद्यमान था । यह देखने पर मैं फिर उनकी डाँट के कारण दुःखी नहीं हुआ । वह सेवक थोड़ी देर में लौट आया । हरि महाराज हम सभी पर अपार करुणा दर्शाने लगे ।

धर्मजीवन के आरम्भ में ही मुझे वेदान्तशास्त्र का यथारीति क्रमबद्ध रूप से अध्ययन करने की इच्छा हुई । इसके लिए कौन-कौन से ग्रन्थ पढ़ने चाहिए इस विषय में हरि महाराज को पत्र द्वारा पूछा । उत्तर में दिनांक ५-५-१९१२ को कनखल से पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—"उपनिषद्, गीता तथा शारीरक भाष्य ही वेदान्त के प्रस्थानत्रय हैं । इनमें विशेष गति रहना आवश्यक है । फिर प्रकरणग्रन्थ भी बहुत हैं। सभी पुस्तकें पढ़ना कठिन है । पंचदशी, योग-वासिष्ठ, विवेकचूड़ामणि आदि ग्रन्थ भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । पंचदशी अच्छी तरह से पढ़ने पर अद्वैतमत के सामान्य तत्त्वों को अच्छी तरह से समझा जा सकता है । सर्वोपरि, साधना की विशेष अपेक्षा है । वेदान्त में अनुभूति ही असली चीज है । वह साधनसापेक्ष है । पठन उसका सहायक

मात्र है।"

दूसरे एक पत्र में मैंने उन्हें लिखा था—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हम चारों ओर सीमाएँ खींचकर स्वयं को सीमाबद्ध कर लेते हैं और इस प्रकार अपनी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग स्वयं बन्द कर लेते हैं।" इसके उत्तर में महाराज ने कनखल से २५-३-१९१२ को लिखा—"तुमने अपने बारे में जो लिखा, उससे मुझे लगता है कि यह रोगनिर्णय ठीक ही है। वह केवल तुम्हारे ही बारे में सत्य हो सो बात नहीं, वह सभी के बारे में उसी प्रकार सत्य है। सीमाएँ खींचकर हम अपनी उन्नति का मार्ग रुद्ध कर लेते हैं। सीमा या घेरे की आवश्यकता ही नहीं है ऐसा मैं नहीं कहता, परन्तु वह कब आवश्यक है और कब नहीं—यह जानना बहुत जरूरी है। गीता (६।३) में कहा है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥' इत्यादि।

एक समय जिसका आदरपूर्वक आवाहन करना पड़ता है, उसी का कालान्तर में विसर्जन करना भी अत्यावश्यक हो जाता है। अवस्थाभेद के अनुसार व्यवस्था में भेद होना चाहिए—बस, इतना ही। फिर भी यह ठहराना बड़ा कठिन है इस विषय में सन्देह नहीं। प्रभु के हाथों सारा भार सौंपकर निश्चिन्त हो सकने पर किसी बात के लिए पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता—यह निश्चित है। प्रभु की कृपा से सब ठीक हो जाएगा। चिन्ता मत करो। भगवच्छरणम्, भगवच्छरणम्।"

दूसरे एक पत्र में मैंने प्रश्न पूछा था—"बीजमंत्र का ठीक ठीक अर्थ क्या है? वेद-उपनिषदों में ओंकार के

सिवा दूसरा मंत्र नहीं दिखाई देता । फिर यह भी सुनने में आता है कि जितने भी बीजमंत्र हैं, उनकी उत्पत्ति ओंकार से ही हुई है । यदि साधक के द्वारा विशेष विशेष बीजमन्त्रों का जप किया ज.ए तो क्या उसकी ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में वे ओंकार में विलीन हो जाएँगे ?" इसके उत्तर में उन्होंने मुझे काशी से दि. २७-११-१९१२ को लिखा था—"जिस प्रकार बीज में वृक्ष की भावी उत्पत्ति, वृद्धि एवं फूल-फल आदि की सम्भावना निहित रहती है, उसी प्रकार जिस शब्द की सहायता से साधक की आध्यात्मिक उन्नति की शक्ति प्रकट होती हुई उसे चरमोत्कर्ष प्राप्त कराती है, वही बीजमन्त्र है । एक महापुरुष ने कहा है—

'मन तूने कृषिकर्म न जाना ।
वृथा पड़ी मानव-जमीन यह,
श्रम करता तो फलता सोना ।।
गुरु का दिया बीज बोकर तू भक्ति-वारि का सिंचन करना ।
अगर अकेले न बने तो मन, 'रामप्रसाद' को सँग ले चलना ।।
कालिनाम की बाड़ लगा ले, फसल सुरक्षित यदि हो पाना ।
काली का वह दृढ़ घेरा है, समीप उसके यम आवे ना ।।'

—मानव-जमीन, गुरु, गुरु का दिया बीज, बीज बोना, भक्तिजल सींचना और कालीनाम की बाड़ लगाना—इस प्रकार साधना करते हुए स्वयं का भी समर्पण कर देना—यही संकेत है । ठाकुर कहते थे—'रामप्रसाद को सँग ले चलना' इसका अर्थ है अहंबुद्धि—मैं 'रामप्रसाद या अमुक-अमुक हूँ यह तक—भूल जाना । बिलकुल तन्मयत्व प्राप्त करना—यही साधना का पर्यवसान है । भिन्न भिन्न देवी-देवता उसी अखण्ड सच्चिदानन्द की ही भिन्न-भिन्न शक्तियों के अभिव्यक्त रूप हैं—भिन्न-भिन्न नामों से अभि-

हित हैं—साधकों की अभीष्टपूर्ति के लिए भिन्न भिन्न भावों से विकसित हैं। तो फिर भला उनके बीज भी भिन्न भिन्न क्यों न हों ? तन्त्रशास्त्र में इस विषय पर तुम्हें विशेष जानकारी प्राप्त होगी ।

"सभी हिन्दूमत एकमात्र वेदों का ही आश्रय लेकर स्थित हैं। अतएव कोई भी मत, यानी पुराण, तन्त्र आदि कुछ भी, अवैदिक नहीं है। इन सभी की नींव वेद में है। केवल साधक के समझने की सुविधा के लिए ऋषियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है एवं साधना-पद्धतियाँ बना दी हैं, बस इतना ही। शास्त्रप्रणेतागण कहते हैं कि वेदों में ही उनके प्रस्तावित विषयों का उल्लेख है। समूचे वेद को न पढ़कर ही यदि हम कहें कि 'ये सब बातें वेद में नहीं हैं', तो हमारा कहना अनुचित होगा इसमें सन्देह नहीं। जब शब्द मात्र ही ओंकार से उत्पन्न है, तब सभी बीज ओंकारात्मक होंगे इसमें विशेष बात क्या है ? अनाहत ध्वनि सुनाई देती है—सुना है। बीजमन्त्र भी ज्योतिर्मय अक्षरों में दिखाई देते हैं तथा कभी कभी सुनाई भी देते हैं। बीज ओंकार में विलीन हो जाते हैं या नहीं—मैं नहीं जानता। परन्तु मन्त्र और देवता अभिन्न हैं—यह सुना है। मन्त्र मानो देवता के शरीर का अधिष्ठानस्वरूप है। केवल पूछकर इन सब बातों का निर्णय नहीं होता, साधना करनी होती है तथा गुरुकृपा से धीरे धीरे इनकी उपलब्धि होती है। ठाकुर का ही कथन है—'भाँग भाँग' कहने भर से नशा नहीं चढ़ता, भाँग लाकर उसे धोना पड़ता है, फिर पीसना पड़ता है, फिर पीना पड़ता है, तब कहीं नशा होता है। फिर 'जय काली जय काली' कहते हुए आनन्द लूटो। शास्त्र में भी कहा है कि हेतुनिष्ठ होना

ठीक नहीं। वैसे समझने के लिए प्रश्न पूछे जा सकते हैं। परन्तु साधना करते करते ही धीरे धीरे सभी प्रश्न अपने आप शान्त हो जाते हैं। साधना के बिना प्रश्नों का विराम होना असम्भव है।

"जिस प्रकार प्रश्न अन्दर से उठते हैं, साधना द्वारा तत्त्व निश्चय हो जाने पर उसी प्रकार अन्दर ही सभी सन्देह का अन्त हो जाता है और इसी का नाम शान्ति या विश्रान्ति-लाभ है। भगवत्कृपा से यह जिसे मिलता है, वही समझ सकता है। अन्यथा प्रश्न पूछते हुए कभी किसी को वह अवस्था प्राप्त नहीं होती। यही शास्त्र-सिद्धान्त है। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः।'*— ऐसे सैकड़ों शास्त्रवचन इसके प्रमाण हैं। खूब लग जाओ, प्रभु की कृपा होगी ही। फिर 'जयकाली जयकाली' कहते हुए सदा आनन्द लूटोगे।"

मैं पत्रों में हरि महाराज से कई प्रश्न पूछता था। ऊपर उद्धृत पत्र में उन्होंने लिखा था, "हेतुनिष्ठ होना ठीक नहीं। वैसे समझने के लिए कुछ प्रश्न पूछे जा सकते हैं, आदि।" इसके बाद के पत्र में मैंने कोई प्रश्न नहीं पूछा। केवल लिखा—"ऐसा नहीं लगता कि समाधि के न होने तक कभी सन्देह दूर होंगे।" इसके उत्तर में उन्होंने काशी से दि. २-१-१३ को मुझे लिखा—"इस बार तुमने कोई प्रश्न नहीं पूछा। तुमने ठीक ही कहा है, जब तक समाधि नहीं होती, तब तक सन्देहों का पूर्ण निरसन नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रतीति या साक्षात्कार के न होने तक पढ़कर या सुनकर ठीक-ठीक निःसन्देह नहीं

* इस आत्मा का वेद-अध्यापन के द्वारा लाभ नहीं किया जा सकता।—कठ उपनिषद्, १/२/२३; मुण्डक उपनिषद्, ३/२/३।

हुआ जा सकता। फिर भी विचार द्वारा काफी उपलब्धि होती है। श्रद्धापूर्वक किया हुआ शास्त्रपाठ बहुत सहायता करता है। सत्संग की तो बात ही क्या ?"

जीवनमुक्ति का लाभ करना हो तो पुरुषार्थ और भगवत्कृपा इनमें से किस बात पर अधिक बल देना चाहिए?—इस प्रश्न के उत्तर में महाराज ने मुझे काशी से दि. २०-२-१९१३ को लिखा था—"मनुष्य यन्त्रमात्र है, प्रभु ही यन्त्री हैं। वह धन्य है, जिसके द्वारा प्रभु अपना कार्य करा लेते हैं। सभी को इस संसार में कार्य करना पड़ता है—कार्य किये बिना कोई छूट नहीं सकता। पर जो अपना स्वार्थ साधने के उद्देश्य से कर्म करता है, उसका कर्म उसे पाशों से मुक्त नहीं करता, बल्कि और बन्धन में डालता है। किन्तु प्रभु के लिए कर्म करते हुए विवकी पुरुष कर्मपाश को नष्ट कर डालता है। 'मैं नहीं, व ही कर्ता हैं'—इस बोध से पाश नष्ट होते हैं। और यही यथार्थ सत्य है। 'मैं कर्ता हूँ' यह बोध केवल भ्रम है। कारण यह कि 'मैं' को ढूंढ़ निकालना दुःसाध्य है। 'मैं कौन' इसका ठीक-ठीक विचार करने पर 'मैं' का प्रभु में ही पर्यवसान हो जाता है। देह-मन-बुद्धि आदि के विषय में 'मैं'—बोध केवल अविद्याकल्पित भ्रान्ति है। वह अन्त तक ठहरता ही कहाँ है? विचार करने पर तो कुछ भी नहीं रह जाता। सब चला जाता है। केवल वही एक सत्ता रह जाती है, जिसमें से सब कुछ प्रकट हो रहा है, जिसमें सब कुछ स्थित है तथा अन्त में सब कुछ जिसमें विलीन होता है। यह सत्ता ही अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म है, अहंप्रत्ययसाक्षी है, फिर यही सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारी भी है और निर्लिप्त व्यापक

विभु भी। उसी सत्ता का आश्रय लेकर उसी की शक्ति से यह जगत्-यन्त्र परिचालित हो रहा है। वे लीला-मय अपनी लीला देख रहे हैं और आनन्द ले रहे हैं। जिनको वे समझा दे रहे हैं, वही समझ पा रहा है। दूसरे समझकर भी नहीं समझ रहे हैं—स्वयं को उनसे अलग मानकर मुग्ध हो रहे हैं। यही उनकी माया है। उनके शरणागत होकर कर्म करने से यह माया हट जाती है। फिर कर्ता समझ जाता है कि वह कर्ता नहीं, यन्त्र-मात्र है। इसी का नाम है कर्म करते हुए भी न करना। यही अकर्ता-अनुभूति है, यही जीवन्मुक्ति है। इस जीवन्मुक्ति के सुख को भोगने के लिए ही आत्मा ने देहधारण किया है। अन्यथा नित्यमुक्त आत्मा के लिए संसार की कामना से जन्मग्रहण करना किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता। इस देह के रहते भी अदेह-बोध प्राप्त कर लेना—यही मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य है। इसे प्राप्त र सकने पर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। प्रभु से आन्तरिक प्रार्थना है कि इसी जीवन में हम उनकी कृपा से जीवन्मुक्ति-सुख का लाभ कर सकें; यही हमारा अन्तिम जीवनधारण हो अर्थात् फिर कभी स्वयं का स्वार्थ साधने के लिए हमें देहधारण न करना पड़े। हमारा जीवन उन्हीं के लिए है, अन्य किसी बात के लिए नहीं—यह धारणा, यह विश्वास, यह अनुभूति इसी जीवन में दृढ़मूल हो। प्रभु हम पर प्रसन्न हों। जय श्री गुरुमहाराज की जय!"

हमारे एक गुरुभ्राता ने पहले एक बार रामकृष्ण-संघ में योगदान देने के लिए प्रयत्न किया था, किन्तु सफल नहीं हो सके थे। दूसरी बार प्रयत्न करने पर वे

सफल हुए और मद्रास मठ में आकर संघ में सम्मिलित हुए। तब मैंने उनके बारे में मद्रास मठ से हरि महाराज को पत्र लिखा। उत्तर में उन्होंने कनखल से दि. १४-५-१९१३ को मुझे लिखा—"उससे हमारी शुभेच्छाएँ और प्रेम कहना। गीता (६/५) में है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।

उसे याद दिला देना कि—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रो दारं न ज्ञातिः धर्मस्तिष्ठति केवलः ।।

उससे इस बात की यथार्थ उपलब्धि करने के लिए कहना। प्रभु तुम्हारे सहाय हैं। कोई चिन्ता नहीं—सभी विपदाएँ हट जाएँगी। खूब दृढ़, खूब अनुरागयुक्त रहना। कोई डर नहीं।"

एक बार बहुत दिनों से हरि महाराज को पत्र नहीं दे सका था। बाद में एक पत्र में उन्हे लिखा कि साधु-जीवन में अब तक विशेष कोई उपलब्धि नहीं कर सका इसलिए दिन निरानन्द में बीत रहे हैं। उत्तर में उन्होंने अलमोड़ा से दि. २७-७-१९१५ को लिखा — "यदि भगवान् का लाभ नहीं हुआ इसलिए सचमुच ही तुम निरानन्द अनुभव कर रहे हो, तो इसमें सन्देह नहीं कि तुम्हारे जीवन में शुभदिन का उदय हो चुका है। जाने रहो कि इस प्रकार का अनुभव जितना घनीभूत होगा, प्रभु की कृपा उतनी ही समीप है। किन्तु यदि दूसरी कोई वासना भीतर में रहकर इस प्रकार निरानन्द-भाव उत्पन्न कर रही हो तो अविलम्ब उसे मन से दूर निकाल फेंकने के लिए प्रयत्न करना। इस विषय में किसी तरह

टालमटोल या ढिलाई मत करना। कारण यही परमार्थ-पथ का प्रधान परिपन्थी यानी विघ्नस्वरूप है। सदैव योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते रहना। ऐसा करने पर भगवान् प्रसन्न होकर तुम्हें सभी सुखों का अधिकारी बना देंगे। 'गुरु के घर में गौ जैसे पड़े रहना!' —किसी प्रसिद्ध महापुरुष* से यह उपदेश पाकर स्वामी-जी ने हमें बारम्बार सुनाया था। उन्होंने और एक परम हितकारी उपदेश दिया था—'गुरुभाई को गुरु-जैसा जानना।' प्रभु के द्वार पर पड़े रहना ही असली कार्य है। पड़े रह सके तो उनकी दया अवश्य ही होगी। निरानन्द हटकर महानन्द प्रकट होगा। यदि वे मुझे अपने द्वार पर पड़े रहने देते हैं तो यह उनकी महत्कृपा है—जो इस बात की उपलब्धि कर सकता है, उसे शीघ्र ही प्रभु की पूर्ण कृपा प्राप्त होती है इसमें कोई सन्देह नहीं। सम्पूर्ण प्राण-मन से उन्हें चाहने, प्यार करने का प्रयत्न करो। स्वयं के आनन्द-निरानन्द की चिन्ता क्यों करते हो? उन्हें आत्मसमर्पण कर देने के बाद वे जैसा रखें उसी में मंगल है—यह भाव हृदय में दृढ़मूल और सदैव जागृत रहे इसके लिए सर्वतोभावेन अन्तः-करण से प्रार्थना करना। ऐसा करो तो सब मंगल होगा।"

हमारे ब्रह्मचारी-भाइयों में से कोई-कोई बेलुड़ मठ में श्री महाराज (ब्रह्मानन्दजी) से संन्यास लेकर मद्रास मठ लौटे थे। हरि महाराज उस समय अलमोड़ा में थे। मैंने उन्हें पत्र द्वारा ब्रह्मचारियों के संन्यासग्रहण का समाचार भेजा। उत्तर में दि. २१-४-१९१६ को उन्होंने मुझे लिखा—"यह जानकर कि उन लोगों ने संन्यास-

* गाजीपुर के पवहारी बाबा।

ग्रहण किया है, मैं आनन्दित हुआ। प्रभु से प्रार्थना करता हूँ—प्रभु उन्हें संन्यास का ठीक-ठीक पालन करते हुए मनुष्य-जीवन को धन्य बनाने की शक्ति दें। अन्यथा केवल नाम भर के लिए संन्यास लेना पर्याप्त नहीं। संन्यास बड़ी टेढ़ी खीर है। ठाकुर कहते थे—'जो हाथ-पैर ढीले छोड़कर पेड़ पर से गिर सकते हैं, वे ही संन्यास-ग्रहण के अधिकारी हैं।' यह इतनी आसान बात नहीं है। सम्पूर्णतः भगवान् पर निर्भर हुए बिना ऐसा करना सम्भव नहीं हो सकता।"

पूजनीय हरि महाराज सदैव अपने अपूर्व आध्यात्मिक भाव के द्वारा हम लोगों के समक्ष साधुजीवन के उच्च आदर्शों को उज्ज्वलरूप से प्रदर्शित करते रहते थे तथा इसी रीति से हमें उपदेश और प्रेरणा दिया करते थे। एक दिन हम कई लोग सारनाथ देखने गये थे। वहाँ का अशोक-स्तम्भ, स्तूप एवं अजायबघर में रखे प्राचीन स्मृति-अवशेषों को देखकर लौट आने के बाद हम उत्साहपूर्वक हरि महाराज को सब बातें बताने लगे। सब कुछ सुन लेने के पश्चात् उन्होंने कहा, "तुम लोग एक अच्छा-खासा हो-हुल्लड़ कर आये।" इस वाक्य के द्वारा उन्होंने हमें समझा दिया कि 'घूमना-फिरना मानसिक अस्थिरता के ही कारण होता है। मन के स्थिर हो जाने पर एक ही स्थान पर बैठे हुए ईश्वरी आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। फिर विभिन्न स्थानों में दौड़धूप करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।'

एक दिन उन्होंने अपनी अवस्था के विषय में कहा, "मैं गम्भीर ध्यान कर रहा था। एक कदम और आगे बढ़ता तो ब्रह्म में लीन हो जाता। किन्तु ठाकुर ने वैसा

नहीं करने दिया। वे मुझे खींच लाये। वे अपनी लीला के लिए नये recruit (सेवकों की भरती) भी करते हैं।" किसी किसी साधक को भगवान् विलीन नहीं होने देते—संसार के कल्याण के लिए उनके भगवद्-भाव में विभोर विशुद्ध व्यक्तित्व को बनाये रखते हैं। ये समाधि के आनन्द को त्यागकर विभिन्न प्रकार से संसार का कल्याण करने में लगे रहते हैं। मेरा विश्वास है कि स्वामी तुरीयानन्दजी इसी तरह के महापुरुष थे।

ठाकुर हरि महाराज के बारे में कहते थे, "वह गीतोक्त योगी है।" शास्त्रों में सिद्धपुरुष का जो वर्णन पाया जाता है, वह हरि महाराज के जीवन में मूर्तिमान् हो उठा था। इन स्थितप्रज्ञ महापुरुष का दिव्य जीवन तथा अनुभूतिजन्य उपदेश साधक को आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं।

○

"कामिनी-कांचन का त्याग हुए बिना ज्ञान नहीं होता। त्याग होने पर ही अज्ञान-अविद्या का नाश होता है। आतशी काँच पर सूर्य की किरणें पड़ने पर उससे कितनी वस्तुएँ जल जाती हैं, परन्तु कमरे के भीतर, जहाँ छाया है, वहाँ आतशी काँच ले जाने पर यह नहीं हो पाता। इसके लिए घर छोड़कर बाहर निकलना पडता है।"

—श्रीरामकृष्ण

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम.ए.

(१) जाके मन कछु बसे बुराई

एक बार भगवान् बुद्ध पूर्वाह्न समय भिक्षाटन से प्राप्त भिक्षा का ग्रहण करने के लिए एक स्थान पर आसन लगा ही रहे थे कि 'पोतलिय' नामक एक गृहपति वहाँ पहुँचा और आकर खड़ा हो गया। बुद्धदेव ने उससे कहा, "आओ गृहपति, आसन पर विराजमान हो।" पोतलिय ने कहा, "भगवन्! आप मुझे 'गृहपति' कहकर सम्बोधित न करें, क्योंकि मैंने अपने गृह का त्याग कर दिया है।" तथागत ने कहा, "नहीं गृहपति! तुम्हारा व्यक्तित्व एवं चर्या तुम्हें 'गृहपति' ही सिद्ध करती है।"

"भगवन्! मैंने अपनी खेती-बाड़ी का काम छोड़ दिया है, खरीद-बिक्री के व्यवहार त्याग दिय हैं। मेरे पास जो भी धन-धान्य था, सुवर्ण-चाँदी थी, सब का सब अपने पुत्रों को बाँट दिया है। मैं तो सिर्फ खाने-पहनने से ही वास्ता रखता हूँ।"

"मगर गृहपति! तू यह जो समझता है कि तूने गृह के सारे व्यवहार उच्छेद कर दिये हैं, यह तेरी भूल है। वास्तविक व्यवहार-उच्छेद इस तरह नहीं होता।"

"तब वास्तविक व्यवहार-उच्छेद कैसे होता है, भन्ते!"

"गृहपति! प्राणातिपात (हिंसा) का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, चुगली करने का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, लोभ का त्याग व्यवहार-उच्छेद है, क्रोध का त्याग व्यवहार-उच्छेद है और अभिमान का त्याग भी व्यवहार-उच्छेद है! गृहपति! 'गृह-त्याग' का अर्थ घर से दूर

रहने से नहीं, बल्कि बुराइयों के त्याग से है। सारे अनर्थ की जड़ बुराइयाँ हैं और इनका त्याग करने से ही धार्मिक जीवन की प्रतिष्ठापना सम्भव है।"

(२) आँधी आयी ज्ञान की

एक बार भाई जोध नामक एक विद्वान् सिक्ख गुरु अंगददेवजी के दर्शन को आये। वे अपने मन स जाति का अभिमान निकालना चाहते थे। जब उन्होंने गुरुदेव के समक्ष अपनी इच्छा व्यक्त की, तो उन्होंने लंगर की सेवा करने को कहा। गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर वे सुबह से शाम तक लंगर में जुटे रहते। वे आगत लोगों की सेवा तो करते ही, साथ ही उनके बर्तन भी साफ करते। पंगत में बैठे लोग जो भी जूठन छोड़ते, वे उसी को खाकर अपना पेट भरते। उन्हें ऐसा करते देख एक दिन भाई बुड्ढाजी नामक एक शिष्य ने पूछा, "आप लंगर का भोजन कैसे करते हैं?" तब भाई जोध ने उत्तर दिया, "चिड़िया चोग" (चिड़िया की तरह चुगता हूँ)।

एक दिन अंगददेव पंगत में भोजन कर रहे थे। भाई जोध को पंगत में न बैठे देख उन्हें बुलाकर पूछा, "सेवा तो खूब करते हो, मगर लंगर कब छकते हो?" जोध ने वही उत्तर दिया, "चिड़िया चोग।"

"यानी तुम जूठन को चुगते हो?"—गुरुदेव ने आश्चर्य से पूछा, फिर कहा, "यह ठीक नहीं है। तुम्हें स्वच्छ लंगर छकना चाहिए, जूठा नहीं। जूठा खाना नम्रता नहीं, हीनता है।"

अब भाई जोध स्वच्छ लंगर छकने लगे। एक दिन भाई बुड्ढाजी ने उन्हें स्वच्छ भोजन करते देखा, तो

व्यंग्य से उनसे कहा, "अरे, पहले तो तुम जूठा प्रसाद ग्रहण करते थे, मगर अब स्वच्छ भोजन करते हो ?" जोध ने जवाब दिया, "पहले मेरे अन्दर जाति-अभिमान जैसा चाण्डाल बसता था, जिसे मैं जूठा प्रसाद देता था। मगर अब मेरे अन्दर गुरुजी का उपदेश बस गया है, इसलिए उसे मैं स्वच्छ प्रसाद देता हूँ।"

(३) यद् रोचते तद् ग्राह्यम्

सन्त रामदासजी का 'भोलाराम' नामक एक प्रिय शिष्य था, जो स्वामीजी के भोजनोपरान्त उन्हें पान खिलाया करता। स्वामीजी के दाँतों में दर्द होने के कारण वह उन्हें पान को ठीक से कूटकर दिया करता। जब अन्य शिष्यों ने देखा कि भोलाराम पर समर्थ की विशेष कृपा है, तो वे उससे जलने लगे और उन्होंने एक दिन खल-बत्ता छिपा दिया। जब शाम को भोलाराम को खल-बत्ता दिखाई नहीं दिया और समर्थ ने जल्दी पान लाने के लिए कहा, तो उसने मुख-प्रक्षालन कर अपने दाँतों से ही पान को चाबकर गुरुदेव के समक्ष पेश किया। समर्थ ने जब पान खाया, तो बोले, "आज तो पान बड़ा मीठा लग रहा है।" अब भोलाराम नित्य ही पान को चबाकर उन्हें खिलाने लगा।

एक दिन छत्रपति शिवाजी सन्ध्या समय मठ में आये। समर्थ का उसी समय भोजन समाप्त हुआ था। उन्होंने जब भोलाराम को पान लाने की आवाज दी, तो शिवाजी बोले, "मैं लाता हूँ।" और जब वे अन्दर गये, तो वे यह देख स्तब्ध रह गये कि भोलाराम पान को अपने मुँह में चबाकर उसे ही स्वामीजी को देने जा रहा है। उन्हें बड़ा गुस्सा आया। भोलाराम ने

शिवाजी की ओर देखा और इससे पहले कि वह उनके गुस्से का शिकार बनता, उसने समीप रखी छुरी उठायी और बाँयें हाथ म अपने सिर की चोटी पकड़कर दाहिने हाथ से गर्दन काटकर शिवाजी महाराज के हाथों म सिर रख दिया। यह देख शिवाजी हतप्रभ रह गये। तभी भोलाराम के कण्ठ से ध्वनि निकली--"समर्थ को पान दे आएँ।" शिवाजी को पछतावा होने लगा कि वे व्यर्थ ही इस पचड़े में पड़े। इतने में रामदासजी की आवाज आयी, "शिवबा, पान जल्दी लाओ।" देर होती देख वे स्वयं अन्दर गये। वहाँ का दृश्य देखकर वे मन ही मन मुसकराये। उन्होंने भोलाराम के कटे सिर के समक्ष हाथ पसारे। इससे उसके मुख का पान उनकी हथेली पर गिर पड़ा। उसे उन्होंने प्रेमपूर्वक मुख में डाला। शिवाजी को हैरान देख उन्होंने मस्तक को धड़ से लगाने के लिए कहा। शिवाजी ने ज्योंही मस्तक धड़ पर रखा, तो वह पूर्ववत् लग तो गया, लेकिन उनका हाथ काँपने से किंचित् टेढ़ा लग गया। तब भोलाराम बोला, "सिर कुछ टेढ़ा हो गया है, शायद श्री की यही इच्छा है।" तब समर्थ ने भोलाराम के मस्तक की ओर इंगित करते हुए शिवाजी से हँसते हुए कहा, "क्यों शिवबा, इस खल का पान खाना चाहिए या नहीं?" शिवाजी शर्मिन्दा हुए और उन्होंने सिर झुकाकर क्षमा माँगी।

(४) जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे

हज़रत निजामुद्दीन औलिया के बाईस शिष्य थे। उनमें से हरएक की इच्छा थी कि उनकी गद्दी का वारिस वही बने। एक दिन हज़रत उन सबको सैर को

ले गये। घूमते-घूमते वे गन्दी बस्ती में गये। शिष्य सोचने लगे कि उन्हें इस गन्दी बस्ती में क्यों लाया गया है? इतने में हज़रत ने कहा, "यहीं रुको, मुझे जरा ऊपर कुछ काम है।" और वे ऊपर चले गये।

एक वेश्या ने उन्हें ऊपर आया देख हाथ जोड़कर उनसे कहा, "मेरे तो धन्य भाग हैं, जो एक पीर आज मेरे द्वार पर आये हैं।" तब हज़रत ने उससे कहा, "मैं एकान्त चाहता हूँ। मेरे लिए एक अलग कमरे में दाल-रोटी और एक बोतल शरबत का प्रबन्ध करो।"

थोड़ी ही देर में जब नौकर ये सारी चीजें ढककर ऊपर ले जाने लगा, तो शिष्य आपस में बात करने लगे—"आज तो पीर की पीरी निकल गयी। अब ऊपर शराब-कबाब खूब उड़ेगा।" और वे सब एक-एक कर वहाँ से निकल गये। केवल अमीर खुसरो बच गये और वे गुरु का इन्तजार करने लगे।

नौकर ने जब खाना रखा, तो निजामुद्दीन बोले, "मुझे नहीं खाना है, तुम्हीं खा लो।" और वे नीचे आये। देखा तो केवल खुसरो को खड़ा पाया। उन्होंने पूछा, "तुम नहीं गये?" खुसरो ने जवाब दिया, "हज़रत, मैं कहाँ जाता? आपकी नामौजूदगी में कोई जगह ही नहीं दिखाई दी, सो यहीं खड़ा रहा।"

हजरत ने उन्हें गले लगाया और उन्हें ही गद्दी सौंप दी।

(५) मोह बड़ा दुखरूप है

एक बार सन्त कबीर एक गाँव में गये। वहाँ उन्होंने देखा कि लोग एक वेश्या को गाँव से बाहर निकालना चाहते हैं और वह गाँव छोड़ने को राजी नहीं

हो रही है। जब लोगों ने उसका घर जलाना चाहा, तो कबीरदासजी ने उन्हें रोका और कहा कि वे लोग धीरज रखें, वह स्वयं चली जाएगी।

दूसरे दिन वे सबेरे ही भिक्षापात्र लेकर उसके द्वार पर पहुँच गये। एक दिव्य पुरुष को सामने भिक्षापात्र लिये देखकर वह अन्दर से कई पकवान लेकर आयी। कबीरदासजी ने पकवानों की ओर देखा तक नहीं और उससे कहा, "मैं यहाँ इन पकवानों की भिक्षा लेने नहीं, बल्कि तुम्हारा मोहावरण दूर करने के लिए आया हूँ। तुम्हारे भीतर जगज्जननी का दिव्य रूप है और उसे तुम्हारी कलुषित कामना ने आच्छादित कर रखा है। मैं उसी आवरण की भिक्षा माँगने के लिए आया हूँ।"

उस स्त्री ने यह सुना, तो उसकी आँखों से आँसू बहने लगे, बोली, "बाबा क्या यह इतना आसान है? यह मोहावरण तो मेरे शरीर की चमड़ी की तरह मुझसे चिपक गया है। इस चर्म को हटाने से जो वेदना होगी, वह भला मुझसे कैसे सहन हो सकेगी?"

कबीरदासजी ने कहा, "जब तक मुझे मेरी भिक्षा नहीं मिलेगी, मैं यहाँ से नहीं हटूंगा।" उस स्त्री ने विचार करने पर निश्चय किया कि मोहावरण को हटाना होगा और गाँव को छोड़े बिना वह हट नहीं सकता। उसने अपना निश्चय कबीरदासजी को कह सुनाया। उन्हें आत्म-सन्तोष हुआ और वे मन ही मन बोले, "इस द्वार पर भिक्षा के लिए आकर आज मैंने एक नारी के जगन्माता के रूप में दर्शन किये।"

○

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:—
पद्मलोचन तर्कालंकार

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेखमाला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ के एक न्यासी तथा प्रशासी मण्डल के एक सदस्य होते हुए उसके सहायक सचिव हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके अगस्त १९८० अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है। अनुवादक स्वामी श्रीकरानन्द रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं।—स०)

गरीब निरक्षर ब्राह्मण होते हुए भी श्रीरामकृष्ण ने अपने असाधारण ईश्वरानुराग और साधना के द्वारा ऐसी आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त कर लिया था, जिसका सानी धर्म के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता। विश्वास, प्रम, आत्म-त्याग, चरित्र की पवित्रता और ईश्वर की इच्छा पर पूरी तरह निर्भरता—ये धार्मिक मनुष्य के कुछ प्रमुख लक्षण हैं, और श्रीरामकृष्ण में हमें ये बातें अपनी पराकाष्ठा में दिखाई पड़ती हैं। वे तर्क-वितर्क और सूक्ष्म विवादों से दूर रहते तथा अपने समकालीन लोगों की तुलना में किताबी ज्ञान पर बहुत कम विश्वास रखते। वे तो पूरी तरह से आध्यात्मिक साधना में डूब गये थे तथा अनुभूतियों द्वारा उन्होंने दर्शन एवं अध्यात्म के सर्वोच्च और सर्वोत्तम गन्तव्य को प्राप्त कर लिया था। तत्पश्चात् मानवता के पास लौटकर उन्होंने अपने प्रत्येक कार्य और शब्द द्वारा यह

प्रत्यक्ष दिखला दिया कि मनुष्य इसी जीवन में यथार्थ सुख को, इस दिव्य आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

वे बाह्य धार्मिक आडम्बरों और सिद्धि-चमत्कारों से सर्वथा शून्य थे। उनके चेहरे पर हरदम रहा करती 'एक पूर्णता, शिशुसदृश कोमलता, छू लेनेवाली गहरी विनम्रता, भाव की अकथनीय मधुरता तथा एक मुस-कान...जो किसी अन्य चेहरे में नहीं देखी गयी'[१]— मात्र यही ऐसा लक्षण था, जिससे उनके सन्तत्व का परिचय मिलता। प्राचीन ऋषि-मुनियों और शास्त्रों की बातें उनके होंठों से नवीन चेतना और सत्त्व ले मुखरित होतीं। सभी धर्मों तथा निष्ठावान् साधकों के प्रति उनमें गहरी श्रद्धा का भाव था। उनके भावपूर्ण नेत्रों में सभी धर्मों के प्राचीन सिद्ध ऋषियों की आध्यात्मिक अनुभूतियों की झलक मिलती। इस विश्वव्यापकता ने उनम सभी स्त्री-पुरुषों के लिए एक व्यापक समझ, विशाल सहृदयता और गहरी चिन्ता पैदा कर दी थी, जिसके कारण वे सभी के प्रिय थे।

पवित्रता, विनम्रता, भक्ति और जाज्वल्यमान त्याग से मण्डित उनके व्यक्तित्व की सुन्दरता सभी वर्ग के लोगों को आकर्षित करती। और उनके शब्द, पंख लगे तीर की तरह, सीधे उनके हृदय में प्रवेश करते। सचमुच उनमें एक ऐसी शक्ति आ गयी थी, जिससे वे उन गिने-चुने लोगों में से एक बन गये, जो इतिहास को एक नयी दिशा और गति प्रदान करते हैं।

---

१. 'समसामयिक दृष्टिते श्रीरामकृष्ण परमहंस' (बँगला) (कलकत्ता: जनरल प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स), पृ. १९८ में पी. सी. मजूमदार द्वारा उद्धृत।

श्रीरामकृष्ण सदैव दूसरों की विशेषताओं की प्रशंसा करते और उन्हें उचित सम्मान देते। वे कहा करते थे, "अरे, सम्माननीय व्यक्ति की मर्यादा न करने से भगवान् रुष्ट होते हैं; उनकी (श्रीभगवान् की) शक्ति से ही तो वे श्रेष्ठ बने हैं, उन्हीं ने तो उनको श्रेष्ठ बनाया है—उन लोगों की अवज्ञा करने पर उनकी (श्रीभगवान् की) अवज्ञा होती है।" स्वामी सारदानन्द-जी लिखते हैं, "इसलिए हम देखते हैं कि जब कभी श्रीरामकृष्णदेव को कहीं पर किसी गुणी व्यक्ति का समाचार मिलता था, तत्काल ही किसी न किसी प्रकार से उनके दर्शन के निमित्त वे व्याकुल हो उठते थे। यदि वह व्यक्ति उनके समीप उपस्थित होता, तब तो कहना ही क्या था, अन्यथा बिना बुलाये भी वे स्वयं जाकर उनका दर्शन, उनसे वार्तालाप तथा उन्हें प्रणाम कर आते थे।"[२]

एक दिन श्रीरामकृष्ण न पद्मलोचन तर्कालंकार भट्टाचार्य के सम्बन्ध में सुना। कालना, बर्दमान के पास ब्राह्मण-परिवार में जन्मे पद्मलोचन ने वाराणसी में अनेक वर्ष वेदान्तदर्शन के अध्ययन म कठिन परिश्रम करते हुए बिताया था। इसके पूर्व उन्होंने न्यायशास्त्र पर प्रभुत्व प्राप्त किया था और बर्दमान के महाराजा के प्रमुख राजपण्डित का गौरवमय पद पाया था। उनकी महत्ता को प्रकट करनेवाली कहानियाँ लोगों द्वारा कही जाती थीं।

---

२. स्वामी सारदानन्द: 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', भाग २, (रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण, पृ. ४२४।

स्वामी सारदानन्दजी से हमें पता लगता है कि "नित्यप्रति के जीवन में उनमें सदाचार, इष्टनिष्ठा, तपस्या, उदारता, निर्लिप्तता आदि गुणों का सतत परिचय पाकर लोगों ने उनको एक विशिष्ट साधक एवं ईश्वरप्रेमी माना था। संसार में यथार्थ पाण्डित्य तथा ईश्वर-भक्ति का एक साथ समावेश दुर्लभ है, वे दोनों कहीं यदि एक साथ होते हैं तो ऐसे पात्र के प्रति लोग विशेष आकृष्ट हुआ करते हैं। अतः लोकपरम्परा से इन बातों को सुनकर श्रीरामकृष्णदेव के लिए ऐसे योग्य पुरुष के दर्शन की इच्छा होना भी कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। श्रीरामकृष्णदेव के हृदय में जिस समय इस प्रकार की इच्छा का उदय हुआ था, पण्डितजी उस समय प्रौढ़ावस्था को लगभग पार कर चुके थे तथा बहुत दिनों से ससम्मान बर्दवान राजदरबार में नियुक्त थे।"[३] स्वामी सारदानन्दजी के अनुसार पण्डितजी श्रीरामकृष्णदेव से १८६४ में आयोजित अन्नमेरु समारोह के कुछ समय पूर्व प्रथम बार मिले थे।[४] तब तक श्रीरामकृष्ण ने तंत्रमत की साधना पूर्ण कर ली थी।

पण्डितजी से मिलने के उत्सुक बालक-स्वभाववाले श्रीरामकृष्ण ने मथुरानाथ के पास अपनी इच्छा प्रकट की। इस पर मथुरानाथ ने कहा कि वे सहर्ष उनके बर्दवान जाने की व्यवस्था कर देंगे। श्रीरामकृष्ण को जगन्माता ने बतलाया कि वे विद्वान् पण्डित दस दिन बाद कलकत्ते आएँगे। और सचमुच ही ऐसा हुआ। एक दिन मथुरानाथ यह खबर ले आये कि पद्मलोचन

३. वही, भाग २, पृ. ३२३।
४. वही, भाग १, प. ४४६।

कलकत्ते आये हैं और आरियादह में विमलचरण विश्वास के बगीचे में ठहरे हैं। वे अस्वस्थ हैं तथा कलकत्ते के प्रसिद्ध चिकित्सक गंगाचरण सेन (१२३१-१३२० बंगाब्द) से इलाज करवा रहे हैं। इसके पश्चात् हृदय ने भी आसपास से सुनी बातों से इसकी पुष्टि की।

पहले हृदय पद्मलोचनजी से मिलकर आया और उसने बतलाया कि पण्डितजी अभिमानी व्यक्ति नहीं हैं; इतना ही नहीं, वे सज्जन पुरुष हैं। उसने यह भी बतलाया कि उसने पण्डितजी में स्वयं दक्षिणेश्वर के परमहंसदव से मिलने का विशेष आग्रह देखा।

दूसरे दिन हृदय को ले श्रीरामकृष्ण नाव द्वारा गंगा में ऊपर की ओर कुछ मील दूर स्थित आरियादह गये। किसी प्रकार की औपचारिकता की अपेक्षा न करते हुए श्रीरामकृष्ण सीधे उस कमरे में गये, जहाँ पण्डित पद्मलोचन ठहरे थे। बिस्तर पर लेटे हुए पण्डित-जी चकित हो उठे और उठकर श्रीरामकृष्ण के सम्मुख खड़ हो आनन्द से उत्फुल्ल मुखमण्डल से कह उठे, "अहा! कितना आश्चर्यमय दृश्य है—बाहर में मानव-रूप है और भीतर में जगन्माता का सुन्दर रूप!" हाथ जोड़कर पण्डितजी ने श्रीरामकृष्ण की अभ्यर्थना की और आसन ग्रहण करने का अनुरोध किया।

श्रीरामकृष्ण किसी भी व्यक्ति के अन्तस् को बिना कोई भूल किये पढ़ लेते थे। उनकी असाधारण आध्या-त्मिक अनुभूतियों की निधि तथा मानसिक शक्तियाँ उन्हें एकदम अपरिचित व्यक्ति की भी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को समझने में सहायता करतीं। पद्मलोचन को देखते ही श्रीरामकृष्ण को यह ज्ञात हो गया कि

पद्मलोचन ने भगवती अम्बिका की कृपा से सिद्धिलाभ किया है।[५]

आसन ग्रहण करते समय श्रीरामकृष्ण भावस्थ हो गये और अपने सहज बालक-सदृश ढंग से पूछा, "क्या तुम पद्मलोचन हो?"

"हाँ, मैं पद्मलोचन के नाम से जाना जाता हूँ।"

श्रीरामकृष्ण—"क्या तुम सच में बहुत विद्वान् हो?"

विनम्र पद्मलोचनजी ने उत्तर दिया, "जब आप कह रहे हैं, तब तो मैं जरूर होऊँगा।"

क्षण भर बाद श्रीरामकृष्ण ने जो उस समय भी भावस्थ थे, अपने मधुर कण्ठ से रामप्रसाद का एक गीत गाया, जिसका आशय यह था—

"कौन जाने काली कैसी है? षड्दर्शन उसे देख नहीं पाते। वह इच्छामयी अपनी इच्छा के अनुसार घट-घट में विराजमान है। यह विराट् ब्रह्माण्ड-रूपी भाण्ड जो काली के उदर में है उसे कैसे जान सकते हो? शिवजी ने काली का मर्म जैसा समझा वैसा दूसरा कौन जानता है? योगी सदा सहस्रार, मूलाधार में मनन करते हैं। काली पद्म-वन में हंस के साथ हंसी के रूप में रमण करती है। 'प्रसाद' कहता है, लोग हँसते हैं। मेरा मन समझता है, पर प्राण नहीं समझता—वामन होकर चन्द्रमा पकड़ना चाहता है।"[६]

---

५. अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि' (बँगला) (कलकत्ता: उब्दोधन कार्यालय, पंचम सं.) पृ. १२५।

६. 'म' : 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भा. १ (रामकृष्ण मठ, नागपुर, तृ. सं.), पृ. ३२।

भाव में डूबकर इसके बाद उन्होंने गाया—

भाई, बताओ क्या होता है मनुष्य का मरने के बाद,
क्योंकि भिन्न है इस पर प्रत्येक का वाद।

कोई कहता भूत बनता,

तो दूसरा स्वर्ग जाने का आश्वासन देता,

कोई सुझाता बैकुण्ठधाम में गमन,

तो कोई लय होना भगवान् में स्वयं...।[७]

अभी भी भावस्थ श्रीरामकृष्ण ने कुछ और हृदय-स्पर्शी भजन गाये। अन्तर्मुखीन दृष्टि लिये हुए वे समाधिमग्न हो गये। पण्डित पद्मलोचन श्रीरामकृष्ण के अलौकिक दिव्यता से भासित मुखमण्डल की ओर एक-टक दखते हुए चकित खड़े थे। उनके नेत्रों से आँसू झर रहे थे। वे सहज ही अनुभव कर रहे थे कि श्रीरामकृष्ण में यह परिवर्तन कोई क्षणिक भावावेश के कारण नहीं अपितु किसी दुर्लभ आध्यात्मिकता की देन है। वाता-वरण गम्भीर था और पण्डित पद्मलोचन यह अनुभव कर कि शास्त्रों का मर्म जैसा उन्होंने पढ़ा था वह उनके और उनके शिष्यों के सामने प्रत्यक्ष प्रकट है, अत्यन्त प्रभावित थे। भजन के समाप्त होने पर भाव-विभोर पद्मलोचन ने अपने को यथासम्भव संयमित किया, अपने आँसुओं को पोंछा और हृदयराम से कहा, "कैसा अद्भुत है; इसके पहले मैंने कभी आँसू नहीं बहाये। इनके

७. गुरुदास बर्मन : 'रामकृष्ण चरित' (बँगला) (कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय), भा. १, पृ. १०१।

भजन सुनकर मेरी आँखों में आँसू बहने लगे।"[८] पण्डितजी के लिए वह सचमुच एक दुर्लभ अनुभव था, क्योंकि इसके पहले उन्होंने धार्मिक सत्य को इतने सहज रूप से प्रत्यक्ष कराते नहीं देखा था।

कुछ समय बाद भावोच्छ्वास से रुद्धकण्ठ हो पण्डितजी ने कहा, "इस दर्शन से मेरा जीवन धन्य हो गया। धर्मशास्त्रों का मेरा दीर्घ और अनवरत अध्ययन आज सफलीभूत हुआ।" इतने वर्षों से पण्डितजी धर्मशास्त्र और उनकी टीकाओं के माध्यम से जो तत्त्व अपने शिष्यों को समझाना चाहते थे, उसको श्रीरामकृष्ण में जीवन्त प्रकट देख वे आनन्द से विभोर हो उठे। आसपास खड़ अपने शिष्यों को सम्बोधित कर उन्होंने कहा, "देख रहे हो? मैंने कोठरीभर धर्मशास्त्रों का मन्थन कर जो पाया है, उससे करोड़ोंगुना अधिक इन्होंने बिना शास्त्र पढ़े ही प्राप्त कर लिया है।"[९]

कुछ क्षण बीते। श्रीरामकृष्ण ने अपनी बालकवत् सरलता से पण्डितजी से पूछा, "अच्छा जी, क्या बता सकते हो कि मुझको यह क्या पकड़ लेता है?"

पद्मलोचन—"यह समाधि है, देवताओं तक को भी सहज में नहीं मिलती।"

हृदय ने पण्डितजी से पूछा, "कुछ बड़े पण्डित लोगों ने इन्हें भगवान् का अवतार माना था। आप

८. २२ जुलाई, १८८३ को भक्तों ने श्रीरामकृष्ण को कहते सुना था, "वह तो इतना ज्ञानी और पण्डित था, परन्तु मेरे मुँह से रामप्रसाद के गाने सुनकर रो पड़ा!" ('वचनामृत', भा. १, पृ. ३८९)।

९. 'रामकृष्ण चरित', पृ. १०१।

क्या कहते हैं?"

शास्त्रों में वर्णित बड़ी-बड़ी बातों से दूर, पण्डितजी ने अपने हृदय की बात कही। कुछ उत्तेजित-से हो उन्होंने कहा, "अवतार से तुम क्या समझते हो? यदि ये चाहें तो कई अवतारों को तैयार कर सकते हैं।"

श्रीरामकृष्ण ने हँसते हुए कहा, "तुम महाराजा के राजपण्डित हो। तुम मुझे क्यों इतना सम्मान देते हो?"

पद्मलोचन—"आपकी पावन पदधूलि के स्पर्शमात्र से कितने ही मूर्ख मेरे-जैसे पण्डित बन सकते हैं।" पण्डितजी ने आगे कहा, "अवतारवाद की धारणा बड़ी हल्की बात है। आप तो वे हैं जो अवतारों की सृष्टि करते हैं। यदि कोई मेरी बात को चुनौती दे तो मैं शास्त्रों के आधार पर उससे शास्त्रार्थ करने को तैयार हूँ।"[१०] उन्होंने अपनी बात जारी रखते हुए कहा, "आपकी उपलब्धियाँ वेद-पुराणादि का अतिक्रमण कर बहुत दूर तक आगे बढ़ गयी हैं।"[११]

कुछ दिनों के बाद पण्डितजी ने श्रीरामकृष्ण से भेंट करने की इच्छा प्रकट की। वे उनको धार्मिक विषयों पर उत्सवानन्द गोस्वामी जैसे प्रसिद्ध पण्डितों के सामने रखे गये अपने तर्कों को सुनाना चाहते थे। उनका मनोभाव यह था कि यदि श्रीरामकृष्ण उसे धैर्यपूर्वक सुन लें, तो वह उनके लिए वरदानस्वरूप होगा।[१२] उसके बाद पण्डितजी ने उत्सवानन्द गोस्वामी को लिखा अपना पत्र श्रीरामकृष्ण

१०. 'रामकृष्ण चरित'।

११. 'लीलाप्रसंग', भा. १, पृ. ३५४।

१२. 'रामकृष्ण चरित', पृ. १०२।

को पढ़कर सुनाया । इस घटना का स्मरण करते हुए श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था, "वैष्णवचरण के गुरु उत्सवानन्द से उसने पत्र-व्यवहार करके विचार किया था, फिर मुझसे कहा, 'आप भी जरा सुनिएगा' ।" [१३]

पद्मलोचन ने एक बार श्रीरामकृष्ण से कहा था, "रानी रासमणि और मथुरबाबू बहुत भाग्यशाली हैं, जो उन्हें तुम्हारी सेवा करने का सुयोग मिला है—तुम, जो जगन्माता के साक्षात् प्रकट रूप हो । अपनी इस बीमारी से ठीक होने पर मैं पण्डितों की एक सभा बुलाकर तुम्हारी अनुभूतियों को उन लोगों के सामने रखूँगा । तब मैं देखूँगा कौन मुझे मेरी अधिकारपूर्वक कही बात से डिगा सकता है ।" [१४] आश्चर्यचकित हो श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "अच्छा, क्या तुम निम्न जाति की रानी रासमणि के मन्दिर में आओगे ?" पद्मलोचन अत्यन्त कट्टर, पुरातनपन्थी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे । इसके बावजूद उन्होंने जवाब दिया, "तुम्हारे साथ अछूतों के घर की सभा में भी जाऊँगा, इसमें भला हर्ज ही क्या है ?—तुम्हारे साथ चण्डाल के यहाँ भी जाकर मैं भोजन कर सकता हूँ ।" [१५]

बातचीत काफी समय तक चलती रही । श्रीरामकृष्ण प्रसन्न थे, वे तो प्रसिद्ध पण्डितजी की आध्यात्मिक उप-

---

१३. 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' (बँगला) (कलकत्ता : कथामृत भवन, १७ वाँ संस्करण), भा १, पृ. १०९ । ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह अपने निवास आरियादह में ही सुनाया था ।

१४. 'रामकृष्ण चरित', पृ. १०३ । चूँकि इसके बाद ही उनका देहावसान हो गया इसलिए वे ऐसा नहीं कर पाये । ('वचनामृत', भा. ३, पृ. ३२२) ।

१५. 'वचनामृत', भा. २, पृ. ६ ।

लब्धियों की गहराई जानने के लिए उत्सुक थे। श्रीरामकृष्ण ने बाद में स्मरण करते हुए बतलाया था, "हम लोग मिलकर बहुत देर तक बात करते रहे, बातें करके ऐसा सुख मुझे कहीं और नहीं मिला।"[१६]

बातचीत के दौरान पद्मलोचन ने श्रीरामकृष्ण को सलाह दी थी, "भक्तों का संग करने की कामना त्याग दो, नहीं तो तरह तरह के लोग हैं, वे तुमको गिरा देंगे।" कट्टर मत का पोषण करनेवाले पण्डितजी श्रीरामकृष्ण की अक्षुण्ण बनी रहनेवाली असीम पवित्रता अथवा उनकी आध्यात्मिक शक्ति की गहराई नहीं भाँप सके थे। श्रीरामकृष्ण ने इस पर क्या कहा था यह तो ज्ञात नहीं है, पर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे इस बात से सहमत नहीं हुए होंगे।

श्रीरामकृष्ण के दक्षिणेश्वर लौट जाने के बाद भी उनकी स्मृति पण्डितजी के मानस में घूमती रही। इस भेंट के पहले और बाद में पण्डितजी को कैसा अनुभव हुआ इस सम्बन्ध में स्वामी सारदानन्दजी लिखते हैं— "...श्रीरामकृष्ण की चरम उपलब्धियों को शास्त्र में लिपिबद्ध न देखकर शास्त्र की बात तथा श्रीरामकृष्णदेव की उपलब्धि इन दोनों म कौन सा सत्य है, यह वे निर्णय नहीं कर पाये थे। अतः शास्त्रीय ज्ञान तथा अपनी तीक्ष्ण बुद्धि की सहायता से आध्यात्मिक विषयों में सदा निश्चित निर्णय पर पहुँचने में समर्थ पण्डितजी के विचारशील मन को श्रीरामकृष्ण का परिचय प्राप्त कर आलोक में अन्धकार की एक छाया के सदृश अपूर्व आनन्द के साथ-साथ एक

१६. वही, भा. १, पृ. ३८९।

प्रकार की अशान्ति की भी उपलब्धि करनी पड़ी थी ।"[१७]

आरियादह में रहते समय बीमार पद्मलोचन अपने पुत्र द्वारा श्रीरामकृष्ण को अपने यहाँ आने का आमंत्रण भेजते रहते थे । श्रीरामकृष्ण उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते थे । चूँकि पद्मलोचन की बीमारी बढ़ती ही जा रही थी, इसलिए वे दक्षिणेश्वर नहीं जा सके थे । वे दोनों घण्टों धार्मिक विषयों पर चर्चा करते रहते । एक समय पद्म-लोचन ने एक मनोरंजक घटना सुनाई थी । एक बार सभा में पण्डितों में इस बात पर विवाद चल रहा था कि कौन बड़ा है—शिव या विष्णु ? किसी निर्णय पर न पहुँच पाने के कारण पण्डितगण पद्मलोचन के पास पहुँचे और उनसे अनुरोध किया कि वे विशेषज्ञ के रूप में अपना निर्णय दें । बिना किसी संकोच के सरल स्वभाववाले पद्मलोचन ने प्रश्न सुनते ही कहा, "मेरे चौदह पुरखों में से किसी ने न तो शिव को देखा है, न विष्णु को, अत: कौन बड़े तथा कौन छोटे हैं, यह मैं कैसे कह सकता हूँ ? किन्तु यदि शास्त्र की बात सुनना चाहो तो यही कहना होगा कि शिवशास्त्रों में शिव को श्रेष्ठ कहा है तथा वैष्णवशास्त्रों में विष्णु को । अत: जिसके जो इष्ट हैं, उसके लिए वही देवता अन्य सभी देवताओं से श्रेष्ठ हैं ।"[१८]

इन बातों को सुनकर श्रीरामकृष्ण इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें समाधि लग गयी । सहज अवस्था में लौटने पर उन्होंने पद्मलोचन से कहा, "तुमने ठीक समझा है ।"[१९]

---

१७. 'लीलाप्रसंग', भा. २, पृ. ३२४ ।

१८. वही, भा. २, पृ. ३२३ ।

१९. 'रामकृष्ण चरित', पृ. १०३-४ ।

पर ऐसा लगता है कि इतने बडे वेदान्ती पद्मलोचन श्रीरामकृष्ण के त्याग सम्बन्धी विचारों को अधिक पसन्द नहीं कर सके थे। वर्षों बाद श्रीरामकृष्ण ने कहा था, " 'कामिनी-कांचन का त्याग' सुनकर एक दिन पद्मलोचन ने मुझसे कहा था, 'इन सबका त्याग क्यों कर रहे हो? यह रुपया है, वह मिट्टी है—यह भेदबुद्धि तो अज्ञान से पैदा होती है।' मैं क्या कह सकता था—बोला, 'क्या मालूम, पर मुझे रुपया-पैसा आदि रुचता ही नहीं'।" [२०]

पण्डितजी और श्रीरामकृष्ण का परिचय जैसे जैसे घनिष्ठ होता गया, वैसे-वैसे पण्डितजी की श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक उपलब्धि सम्बन्धी धारणा दृढ़ होती गयी। और उन्होंने क्रमशः श्रीरामकृष्ण में ऐसी आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश देखा, जो एक प्रकार से अबूझ थी। यह निम्नलिखित घटना से स्पष्ट होता है।

सिद्धाई पाने की इच्छा से पद्मलोचन ने दीर्घ समय तक तन्त्र-साधना की थी। फलस्वरूप उन्हें ऐसी सिद्धि मिली थी, जिसके कारण वे शास्त्रार्थ इत्यादि में अपराजेय रहते। अपनी इष्टदेवी के आदेश से वे अपने साथ सदा एक जल-भरा कमण्डलु और अँगौछा रखते। किसी प्रश्न की

---

२०. 'वचनामृत', भा. १, पृ. ३८९। तथापि श्रीरामकृष्ण की धारणा की पुष्टि के लिए शास्त्रों से ये दो निम्नलिखित प्रसंगों के सिवाय और अधिक उद्धरित करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती:—'अमृतत्व एकमात्र त्याग से ही सम्भव है, न कि कर्म, सन्तानोत्पत्ति अथवा सम्पत्ति से' (महानारायणोपनिषद्, १२/१४)। और, 'पत्नी के त्याग से वास्तव में मनुष्य सांसारिक सुख-भोग की आसक्ति का त्याग करता है, और इस आसक्ति के त्याग से वह परम सुख को प्राप्त होता है' (योगवासिष्ठ रामायण', वैराग्यप्रकरण, २१/३५)।

मीमांसा के लिए अग्रसर होने से पूर्व वे उसे हाथ में लेकर इधर-उधर थोड़ी दूर घूम लेते थे। तत्पश्चात् मुँह धोकर तथा कुल्ला करके वे उस कार्य में प्रवृत्त होते थे। यह रहस्य किसी को, यहाँ तक कि उनकी पत्नी को भी, ज्ञात न था। एक दिन किसी शास्त्रार्थ के पूर्व श्रीरामकृष्ण ने उनका कमण्डलु और अँगौछा छिपा दिया। जगन्माता ने श्रीरामकृष्ण के पास पण्डितजी की सिद्धि का रहस्योद्‌घाटन कर दिया था।[२१] पण्डितजी समझ गये कि श्रीरामकृष्ण सब कुछ जान गये हैं, 'तब पण्डितजी से नहीं रहा गया और वे साक्षात् इष्टबुद्धि से उनकी स्तव-स्तुति करने लगे।' इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने उनके भीतर की न सिर्फ उस सिद्धि को दूर कर दिया, बल्कि उनके भीतर की सत्ता-लाभ की कामना ही दूर कर दी, जिससे वे शुद्धाभक्ति पा सकें।

पद्मलोचन तब से श्रीरामकृष्ण को साक्षात् ईश्वर समझते[२२] और उसी प्रकार उनकी भक्ति करते। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "पद्‌मलोचन इतना बड़ा पण्डित होकर भी यहाँ (मेरे प्रति) इस प्रकार विश्वास-भक्ति करता था!"[२३] अक्षय कुमार सेन के अनुसार, पद्म-लोचन ने श्रीरामकृष्ण में अपनी इष्टदेवी जगन्माता काली के दर्शन किये थे। परवर्तीकाल में श्रीरामकृष्ण ने भी स्वीकारा था, "...पद्मलोचन सदृश कितने ही व्यक्ति—

२१. 'लीलाप्रसंग', भा. १, पृ. ३२७।

२२. शशिभूषण घोष : 'श्रीश्रीरामकृष्णदेव' (बँगला) (कलकत्ता : उद्‌बोधन कार्यालय), पृ. २४४।

२३. 'लीलाप्रसंग', भा. २, पृ. ३२६।

जिन्होंने जीवन भर इस विषय की चर्चा में अपना समय व्यतीत किया है—यहाँ आकर मुझे अवतार कह गये हैं।"[२४]

चूँकि पण्डितजी का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता ही जा रहा था इसलिए वे श्रीरामकृष्ण से सजल नयनों स विदा ले काशीधाम चले गये। सुना जाता है, थोड़े ही दिन बाद वहाँ उनका निधन हो गया।[२५]

श्रीरामकृष्ण और पद्मलोचन के मिलन में श्रीरामकृष्ण की उस विशेषता का परिचय मिलता है कि कैसे वे साधकों के भीतर की आध्यात्मिक अवस्था को तथा उनकी आध्यात्मिक प्रगति में व्यवधान उपस्थित करनेवाले उनके भीतर के संकीर्ण विचारों, द्वेषों एवं रूढ़िवादिताओं को जान जाते थे। उनका मिलन यह भी बतलाता है कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण उच्च बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर जाने के लिए ऐसे साधकों का मार्गदर्शन करते, जिससे अन्त में उस अनन्त की चरम अनुभूति को प्राप्त करने के लिए उन लोगों का मार्ग खुल जाता।

○

२४. वही, भा. २, पृ. ३२७।

२५. वही, भा. २, पृ. ३२७।

संन्यास और योग

(गीताध्याय ५, श्लोक ३-१३)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।५/३।।

महाबाहो (हे अर्जुन) यः (जो) न (नहीं) द्वेष्टि (द्वेष करता है) न (नहीं) कांक्षति (आकांक्षा करता है) सः (वह) नित्यसंन्यासी (सदा संन्यासी ही) ज्ञेयः (समझने योग्य है) हि (क्योंकि) निर्द्वन्द्वः (द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष) सुखं (आसानी से) बन्धात् (बन्धन से) प्रमुच्यते (मुक्त हो जाता है)।

"हे अर्जुन! जो (किसी से) द्वेष नहीं करता और न (किसी वस्तु की) आकांक्षा ही करता है, वह सदैव संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेषादि से रहित पुरुष आसानी से संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।"

पूर्व श्लोक में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की विशेषता बतलायी गयी है। यह विशेषता 'क्या' है यह हमने वहाँ पर देखा। यहाँ पर बता रहे हैं कि यह विशेषता 'क्यों' है। कहते हैं कि कर्मयोगी को भी नित्यसंन्यासी ही मानना चाहिए। क्यों?—इसलिए कि वह न द्वेष करता है, न आकांक्षा। आकांक्षा या कामना आसक्ति या राग से पैदा होती है। मैं किसी चीज की चाह कब करता हूँ? जब मुझे उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। अब यह आवश्यकता दो प्रकार की हो सकती है—एक वह जो जीवित रहने के लिए जरूरी है और दूसरी वह जिसे मनुष्य अपनी इन्द्रिय-सन्तुष्टि के लिए आवश्यक मानता

है। मुझे भूख लगी। भूख को दूर करने के लिए भोजन आवश्यक है, पर यह आवश्यक नहीं है कि भूख को मिटाने के लिए भाँति-भाँति के भोज्य पदार्थों की व्यवस्था की जाय। भूख को दूर करने के लिए भोजन की कामना 'आकांक्षा' या 'चाह' नहीं कहलाएगी, पर विभिन्न भोज्य पदार्थों की माँग अवश्य 'चाह' के अन्तर्गत आएगी। शरीर को ढकने के लए आवश्यक वस्त्र 'चाह' में नहीं आएँगे, पर शरीर को ढकने के नाम पर पोशाक का दिखावा अवश्य 'चाह' के अन्तर्गत आएगा।

कहा जा सकता है कि आवश्यकता का तो कोई मापदण्ड है नहीं। जो एक अधिकारी या सम्पन्न व्यक्ति के लिए आवश्यक है, वह साधनहीन या निर्धन के लिए 'चाह' कहला सकती है। एक मुख्यमंत्री या राज्यपाल के लिए जो आवश्यक है, वह एक उच्च अधिकारी के लिए भी 'चाह' के अन्तर्गत आ सकती है। उसी प्रकार जो राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री के लिए आवश्यक हो, वह एक राज्यपाल या मुख्यमंत्री के लिए दिखावा का कारण बन सकता है। तात्पर्य यह कि पद के साथ आवश्यकता का रूप भी बदलता रहता है। ऐसी दशा में क्या ऊँचे पद में आसीन व्यक्ति कर्मयोगी नहीं हो सकता? राजा को तो सिंहासन पर बैठना ही पड़ेगा, सिर पर मुकुट धारण करना ही पड़ेगा। आज की भाषा में कहें तो उसे अत्यन्त विशिष्ट परिस्थितियों में रहना ही पड़ेगा। तब क्या उसके लिए कर्मयोगी होना सम्भव नहीं? इस श्लोक के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण क्या सन्देश देना चाहते हैं? क्या 'गीता' का कर्मयोगी जड़-पाषाण के समान होगा? उसमें कोई भावनाएँ न होंगी?

नहीं, यह बात नहीं है। 'गीता' के उपदेशक को 'पद' और 'व्यक्ति' का अन्तर मालूम है। एक व्यक्ति एक पद में है। उसे उस पद के अनुरूप जो बातें आवश्यक होती हैं, उनकी चाह वह अपने पद के सन्दर्भ में करेगा, अपने व्यक्तिगत सन्दर्भ में नहीं। मैंने एक प्रदेश के मुख्यमंत्री को देखा है, जिनके कार्यालय में कूलर और सोफा था, जिनके निवास के बैठकखाने में भी कूलर और सोफा था, पर जिनके शयनकक्ष में न तो कूलर था, न सोफा। एक सीलिंग फैन और सामान्य कुर्सियाँ ही उनके अपने कमरे की शोभा थीं। अपने बँगले के अन्य कमरों में भी उन्होंने कूलर नहीं लगाने दिया। यह क्या दर्शाता है ?—यही कि वे पद और व्यक्ति के अन्तर को समझते थे।

तो, हम कह रहे थे कि निर्द्वन्द्व कर्मयोगी को भी भगवान् नित्यसंन्यासी का विशेषण देते हैं। राग-द्वेष के पीछे मनुष्य का स्वार्थ होता है। कर्मयोगी की क्रिया में स्वार्थ की प्रेरणा नहीं होती, वह तो बृहत्तर समाज के कल्याण के लिए ही क्रियाशील रहता है। वह कर्म का कर्तापन और फल का भोक्तापन दोनों को भगवत्सर्मापित कर देता है। अतएव राग और द्वेष के लिए वह कोई गुंजाइश नहीं रखता। संन्यासी भी उसी को कहते हैं, जो राग-द्वेष का त्याग कर चुका है। इस दृष्टि से सच्चे कर्मयोगी को भी सदैव संन्यासी ही समझना चाहिए।

श्लोक के उत्तरार्ध में बताते हैं कि निर्द्वन्द्व होने के कारण वह सुखपूर्वक अर्थात् आसानी से संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है। वास्तव में द्वन्द्व ही मनुष्य को संसार में बाँधते हैं और द्वन्द्व राग-द्वेष से उपजते हैं। अतः जो राग-द्वेष से ऊपर उठ गया, उसे द्वन्द्व नहीं सताते, फलस्वरूप

कर्म उसे बाँध नहीं पाते।

एक दूसरे प्रकार से भी इस श्लोक को समझा जा सकता है। संन्यासी वह है, जो संसार से उपरामता को प्राप्त हो चुका है। वह संसार में रहता तो है, पर उसके बन्धन से मुक्त रहता है। कर्मयोगी को भी इसलिए नित्यसंन्यासी समझना चाहिए कि वह संसार में रहकर कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धन से अछूता बना रहता है, क्योंकि उसके कर्मों के पीछे राग-द्वेषादि बाँधनेवाले द्वन्द्व नहीं होते।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।५/४।।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५/५।।

सांख्ययोगौ (सांख्य और योग को) बालाः (मूर्ख लोग) पृथक् (अलग) प्रवदन्ति (कहते हैं) न (नहीं) पण्डिताः (पण्डितजन) एकम् (एक में) अपि (भी) सम्यक् (अच्छी तरह) आस्थितः (स्थित होने से) उभयोः (दोनों के) फलं (फल को) विन्दते (प्राप्त करता है)।

"सांख्ययोग और कर्मयोग को अलग-अलग मूर्ख लोग बताते हैं, न कि पण्डितजन, (क्योंकि दोनों में से) एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फल (परमात्मा) को प्राप्त होता है।"

सांख्यैः (ज्ञानयोगियों द्वारा) यत् (जो) स्थानं (स्थान) प्राप्यते (प्राप्त किया जाता है) योगैः (निष्काम कर्मयोगियों द्वारा) अपि (भी) तत् (वही) गम्यते (प्राप्त किया जाता है) यः (जो) सांख्यं (ज्ञानयोग को) च (और) योगं (निष्काम कर्मयोग को) एकं (एक) पश्यति (देखता है) सः (वह) च (ही) पश्यति (देखता है)।

"ज्ञानयोगियों द्वारा जो स्थान (परमधाम) प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। (इसलिए) जो ज्ञानयोग और (निष्काम) कर्मयोग को (लक्ष्य या फल की दृष्टि से) एक देखता है, वही (यथार्थ) देखता है।"

यहाँ पर भगवान् कृष्ण सांख्य और योग शब्दों का उपयोग करते हैं। पहले उन्होंने संन्यास और कर्मयोग शब्दों का प्रयोग किया था। अतः हमें 'सांख्य' का अर्थ 'संन्यास' लेना है, और 'योग' का अर्थ तो 'कर्मयोग' है ही।

कुछ लोग 'सांख्य' और 'योग' शब्दों को सांख्यदर्शन और योगदर्शन के अर्थ में लेते हैं। पर हमारी दृष्टि से यह उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ पर उक्त दर्शनों का कोई प्रसंग नहीं है। भले ही सांख्यदर्शन और योगदर्शन लक्ष्य या फल की दृष्टि से व्यक्ति को कैवल्य में ले जाते हों इसलिए एक हों, पर भगवान् कृष्ण द्वारा अचानक इन प्रसंगों का उठाना नहीं बनता।

फिर कुछ दूसरे लोग हैं, जो सांख्य को तो ज्ञान के अर्थ में लेते हैं, पर योग को कर्मयोग के अर्थ में न ले योग-दर्शन के योग के अर्थ में लेते हैं। भले ही चित्त की वृत्तियों के निरोध-रूप समान फल की दृष्टि से ये सांख्य और योग भी एक कहे जा सकते हैं, पर योग शब्द का यह अर्थ लेना भी प्रसंगबाह्य ही होगा।

चौथे श्लोक में कहा कि 'सांख्ययोग' और 'कर्म-योग' को अलग अलग बतलानेवाले लोग मूर्ख हैं— बालक-सदृश बुद्धिवाले हैं, अज्ञानी हैं। परन्तु तत्त्वज्ञानी पण्डितजन ऐसी बात नहीं कहते। हम अपनी पिछली चर्चा में 'सांख्यमार्ग' और 'योगमार्ग' पर विस्तार से प्रकाश डाल चुके हैं और यह कहा है कि दोनों स्वतन्त्र रूप से निःश्रेयस्-रूप

परमफल की प्राप्ति कराते हैं। वही बात चौथे श्लोक में भिन्न ढंग से कही जा रही है। श्रीभगवान् कहते हैं कि एक में सम्यक् प्रकार से स्थित होने से पुरुष को दोनों मार्गों का फल प्राप्त होता है।

यह कैसे सम्भव है?—यह प्रश्न मन में उठ सकता है। राहगीर एक रास्ते से जाए तो उसे दो रास्तों से जाने का फल कैसे मिल सकता है? इसका उत्तर पाँचवें श्लोक में यह कहकर दिया गया है कि जो परमधामरूप फल सांख्यमार्ग के रास्ते पर से जानेवाले लोग पाते हैं, वही योगमार्ग से चलनेवाले भी पाते हैं। फल या लक्ष्य की दृष्टि से दोनों रास्तों में कोई भिन्नता नहीं है। ऐसा नहीं है कि योगमार्ग आकर कहीं बीच में सांख्यमार्ग से मिल जाता हो और फिर आगे की यात्रा सांख्यमार्ग से होती हो। ये दोनों मार्ग मोक्षरूप फल में, निःश्रेयस्रूप परमधाम में जाकर मिलते हैं। इसीलिए कहा गया कि भली प्रकार से एक रास्ते से जाने से दोनों रास्तों का फल मिल जाता है। हमने अपने ४५वें गीताप्रवचन में इस पर विस्तार से चर्चा की है।

योगमार्ग वस्तुतः भक्तिप्रधान मार्ग है। कहा जा चुका है कि इसमें साधक कर्म का कर्तापन और फल का भोक्तापन ईश्वर को समर्पित करता है। दूसरे शब्दों में, कर्मयोगी भगवत्समर्पित बुद्धि से समस्त कर्म करता है। यह भक्ति की ही साधना हुई। इसे 'महान् त्वं' की साधना भी कहते हैं। इसमें साधक अपने अहं को ईश्वर के विराट् अहं में निमज्जित करने की चेष्टा करता है। श्रीरामकृष्ण की भाषा में—यह 'नाहं नाहं त्वमेव त्वमेव' (मैं नहीं, मैं नहीं—तुम्हीं, तुम्हीं) की साधना है। और सांख्यमार्ग है 'महान् अहं' की साधना, ज्ञान की साधना,

'सोऽहम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि' की साधना। इसमें साधक अपने अहं का विस्तार कर विश्व-ब्रह्माण्ड को व्याप लेता है। भले ही ये दोनों रास्ते सर्वथा स्वतंत्र हैं, पर दोनों ही पथ के पथिक माया के बन्धन में नहीं फँसते।

श्रीरामकृष्ण के एक परम भक्त थे गिरीशचन्द्र घोष, जो बंगाल में नाट्यसम्राट् के रूप से प्रसिद्ध थे। वे कहा करते थे—ठाकुर के दो शिष्यों को माया बाँध नहीं पायी। एक थे ज्ञानी विवेकानन्द और दूसरे थे भक्त नागमहाशय। स्वामी विवेकानन्द को जब माया बाँधने गयी, तो उन्होंने ज्ञान के बल पर अपने अहं का विस्तार कर लिया और माया की डोर अन्ततः छोटी ही पड़ गयी। जब माया नागमहाशय क चारों ओर डोर लपेटकर गाँठ कसने लगी, तो उन्होंने भक्ति से अपने को इतना छोटा बना लिया कि गाँठ में से फिसलकर निकल आये।

इस प्रकार चाहे ज्ञानयोग का पथ हो या कर्मयोग का भक्तिप्रधान पथ, दोनों एक ही लक्ष्य की प्राप्ति कराते हैं। इस कारण जो सांख्य और योग को एक देखता है, उसका देखना ही सार्थक है—यह पाँचवें श्लोक के उत्तरार्ध में कहा गया है।

यह सुनकर अर्जुन के मन में प्रश्न उठता है कि जब संन्यास और योग दोनों रास्ते एक ही फल की प्राप्ति कराते हैं, तब मैं योग से न जाकर संन्यास का रास्ता ही क्यों न पकडूँ? योग का रास्ता अपनाने से तो कर्मकीच में से होकर जाना पड़ेगा, संन्यास का रास्ता पकड़ने से इस गन्दगी से बचाव हो जाएगा। इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥५/६॥

तु (परन्तु) महाबाहो (हे अर्जुन) अयोगतः (योग अर्थात् निष्काम कर्मयोग के बिना) संन्यासः (कर्मसंन्यास) आप्तुं (प्राप्त होना) दुःखं (कठिन है) योगयुक्तः (निष्काम कर्मयोगी) मुनिः (भगवत्स्वरूप का मनन करनेवाला) नचिरेण (शीघ्र ही) ब्रह्म (ब्रह्मपद को) अधिगच्छति (प्राप्त हो जाता है)।

"परन्तु हे महाबाहो, (निष्काम) कर्मयोग के बिना कर्म-संन्यास प्राप्त होना कठिन है, (जबकि भगवत्स्वरूप का) मनन करनेवाला कर्मयोगी शीघ्र ही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।"

अर्जुन जिस संन्यास के प्रति आकर्षण का अनुभव कर रहा है, उसमें मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने-वाले सम्पूर्ण कर्मों में व्यक्ति को कर्तापन का त्याग करना पड़ता है। उसे यह अनुभव करना पड़ता है कि गुण गुणों में ही बरत रहे हैं, मैं वस्तुतः अकर्ता हूँ। आगे के श्लोक ८ और ९ में संन्यासी के इसी मनोभाव का चित्रण किया गया है। पर इस मनोभाव को पाना कोई सरल बात नहीं है—यह अर्जुन समझ नहीं पा रहा है। ऐसा मनोभाव प्राप्त करने के लिए मन का शुद्ध होना आवश्यक है। मन की अशुद्धि उसकी चंचलता का कारण बनती है और फलस्वरूप साधक साक्षीभाव में अवस्थित नहीं हो पाता। साक्षीभाव में स्थित होना ही संन्यास की पूर्व शर्त है। मन के शोधन के लिए निष्काम कर्मयोग अनिवार्य है। हमने इस 'निष्काम कर्मयोग' की व्याख्या बारम्बार, स्थान स्थान पर की है।

प्रश्न उठ सकता है कि पूर्व में जब संन्यास और योग

के रास्ते एक दूसरे से स्वतंत्र बताये गये हैं, तब फिर यहाँ पर कैसे यह कहा जा रहा है कि संन्यास के लिए योग की साधना आवश्यक है ? इस प्रश्न का उत्तर हम ऊपर में दे ही चुके हैं। संन्यास मन की एक अवस्था है, जिसे प्राप्त करने के लिए साधक को कर्मयोग में से होकर जाना पड़ेगा। यह बात पहले भी (गीताध्याय ३, श्लोक ४ में) भगवान् कृष्ण कह चुके हैं, जिस पर हमने अपने ४६वें गीताप्रवचन में विस्तार से चर्चा की है।

इस प्रकार कर्मयोग सांख्यमार्ग और योगमार्ग दोनों का आधार है। यह कर्मयोग ज्ञान की भित्ति पर खड़ा रहता है और भक्तिवारि से सिंचित होता है। सांख्यमार्गी को भी अपने साधनाकाल में स्वाध्याय, पठन-पाठन आदि कर्मों में से होकर जाना पड़ता है और ऊँची स्थिति में पहुँच जाने के बाद भी उसे लेखन, प्रवचन आदि क्रियाओं में लगे रहना पड़ता है। शंकराचार्य में कैसी कर्मठता थी ! तात्पर्य यह है कि ज्ञान की नींव पर खड़ा हुआ कर्मयोग सांख्यमार्गी और योगमार्गी दोनों के लिए आवश्यक है। कर्मयोग की साधना में एक स्थिति के बाद संन्यास और योग के दो रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं और ये दोनों फिर से ब्रह्मपदरूप लक्ष्य में आकर मिल जाते हैं।

श्लोक के उत्तरार्ध में बताया कि योगयुक्त मुनि शीघ्र ही उस परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। भगवान् का तात्पर्य यह है कि अर्जुन, कर्मयोग के बिना संन्यास की स्थिति को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। फिर देखो, कर्मयोगी मुनि भी तो उस परमपद को शीघ्र ही पा लेता है, तब तुम क्यों बारम्बार संन्यास की ओर खिंच रहे हो। योग-युक्त के साथ 'मुनि' शब्द जोडकर भगवान् ने यह सूचित

किया कि कर्मयोग में मनन-चिन्तन-रूप ज्ञानांग जुड़ा रहता है और ऐसा कर्मयोगी मुनि भी उस सर्वोच्च पद का शीघ्र अधिकारी बन जाता है ।

यहाँ पर 'ब्रह्म' शब्द से सगुण परमेश्वर का भी बोध होता है और निर्गुण परमात्मा का भी ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।५/७।।

योगयुक्तः (कर्मयोगी) विशुद्धात्मा (विशुद्ध अन्तःकरणवाला) विजितात्मा (मन को अपने वश में रखनेवाला) जितेन्द्रियः (इन्द्रियजयी) सर्वभूतात्मभूतात्मा (समस्त प्राणियों के आत्मरूप परमात्मा के साथ एकरूप हुआ) कुर्वन् (कर्म करता हुआ) अपि (भी) न (नहीं) लिप्यते (लिप्त होता) ।

"जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरणवाला है तथा सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ।"

पूर्व श्लोक में कहा था कि योगयुक्त मुनि शीघ्र ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हो जाता है । अब यहाँ पर यह बताते हैं कि उस कर्मयोगी मुनि में ऐसी क्या विशेषता होती है, जिससे वह द्वैतात्मक जगत् में कर्म करता हुआ भी उस अद्वयपद का अधिकारी हो जाता है । ज्ञानयोगी उस पद को पा लेता है इसमें विशेषता नहीं मालूम होती है, क्योंकि वह तो द्वैत के निरसन की ही साधना करता है और फलस्वरूप उसे उस अद्वय, एकरस तत्त्व में स्थिति प्राप्त होती है । पर यह जरूर अचरज की बात है कि द्वन्द्वों से भरे संसार में रहते हुए, अस्मद्-युष्मद् प्रत्ययों के बीच काम करते हुए कोई उस स्थिति को पा ले । इस अचरज को समझाते

हुए श्री भगवान् यहाँ पर कहते हैं कि योगी निष्काम कर्म-योग की साधना से अपने मन और इन्द्रियों को जीत लेता है। मन और इन्द्रियाँ पूरी तरह उसके ताबे में रहती हैं। फलस्वरूप उसका अन्तःकरण स्वच्छ हो जाता है और ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण में उसका अपना असल स्वरूप प्रतिभात होने लगता है—वह अनुभव करने लगता है कि जो परमेश्वर उसके भीतर आत्मरूप से विराजित हैं, वही समस्त प्राणियों के भीतर भी आत्मरूप से विद्यमान हैं। यही कर्मयोगी की सर्वोच्च स्थिति है। ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता, क्योंकि लेप लगानेवाली आसक्ति का, ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर्म करने के कारण, सर्वथा नाश हो जाता है। इसे हम 'भक्ति का अद्वैत' कह सकते हैं और यह ब्राह्मी स्थिति का ही एक दूसरा रूप है।

श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में हम भक्ति के इस अद्वैत का सुन्दर निदर्शन पाते हैं। उन्हें गले का कैंसर हो गया था। चिकित्सा के लिए उन्हें कलकत्ते में काशीपुर के उद्यानभवन में रखा गया था। रोग बहुत बढ़ गया था, इतनी वेदना होती थी कि देखा नहीं जाता था। वे जल भी मुश्किल से गुटक पाते थे। ऐसे समय एक दिन उनकी अस्वस्थता का समाचार पा बंगाल के प्रख्यात पण्डित शशधर शास्त्री तर्कचूड़ामणि उनके दर्शन करने आये। वे श्रीरामकृष्णदेव के पूर्वपरिचित थे। उन्होंने निवेदन किया, "महाराज, योगशास्त्र में कहा है कि योगी यदि अपने मन को शरीर के रुग्ण अंग में केन्द्रित करके सोचे कि रोग दूर हो जाय, तो निश्चय ही रोग दूर हो जाता है। आप तो बड़े योगी हैं। क्यों न आप

मन को गले में केन्द्रित कर रोग ठीक कर लेते?" सुनते ही श्रीरामकृष्ण कुछ ग्लानि के स्वर में बोले, "कैसे पण्डित हो जी! जिस मन को जगदम्बा को दे दिया है, अब फिर से उसे वापस माँगूँ और इस सड़े-गले मांसपिण्ड पर लगाऊँ? तुम्हें ऐसी बात कहते लज्जा न आयी?" पण्डितजी सचमुच लज्जित हो गये। उन्होंने थोड़ी देर बाद प्रणाम करके श्रीरामकृष्णदेव से विदा ली। श्रीरामकृष्ण के नरेन्द्र आदि भक्तगण वहीं बैठे हुए यह सब देख-सुन रहे थे। भक्तों ने नरेन्द्र को, जो बाद में विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए, संकेत किया कि तुम्हीं गुरुदेव को मना सकते हो। तब नरेन्द्र उनके पास आये और कहा, "महाशय, पण्डितजी ने क्या गलत बात कही? उन्होंने तो हित की ही बात कही। आपके कष्ट को देख हम सबको अपार कष्ट होता है। आपके गले के नीचे पानी भी मुश्किल से उतरता है यह देख हम लोग खाने बैठते हैं, तो कौर गले के नीचे उतरना नहीं चाहता। आप क्यों नहीं अपने मन को गले में केन्द्रित कर ऐसा कहते कि रोग दूर हो जाय?"

"तू भी ऐसा कहता है, रे!"—क्षीण स्वर में श्रीरामकृष्ण बोले, "जिस मन को जगदम्बा को दे दिया है, अब उसे वापस माँगकर इस सड़े-गले मांस-पिण्ड पर लगाऊँ? थूककर चाटूँ? नहीं, मुझसे नहीं हो सकता।"

"महाशय, अपने लिए नहीं तो हम लोगों के लिए यह कीजिए और हमारा कष्ट दूर कीजिए।"—नरेन्द्र-नाथ ने हठ किया।

जब नरेन्द्र तरह-तरह से जोर डालने लगे, तो श्रीरामकृष्ण बोले, "मैं कुछ नहीं जानता, रे! जैसा माँ करेंगी, वैसा होगा।" "नहीं, महाशय, आप माँ स जैसा कहेंगे, वे वैसा ही करेंगी। आप हमारे लिए माँ से कहिए न!"—नरेन्द्र ने आग्रह करते हुए कहा। लाचार हो श्रीरामकृष्ण बोले, "ठीक है, रे! जब तू इतना कहता है तो माँ से कहकर देखूँगा।"

थोड़ी देर बाद नरेन्द्र ने आकर पूछा, "महाशय, आपने माँ से कहा?" श्रीरामकृष्णदेव ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—"हाँ!" नरेन्द्र ने तब जानना चाहा कि फल क्या हुआ। श्रीरामकृष्णदेव बोले, "माँ से कहा—माँ, (गले को दिखाकर) यहाँ इतना कष्ट होता है कि कुछ खा-पी नहीं सकता, इससे नरेन कहता था कि उन सबको भी बड़ा कष्ट होता है। तो नरेन कहता था, माँ, कि मैं तुझसे कहूँ कि यह रोग दूर कर दे, जिससे थोड़ा खा-पी सकूँ और लड़के लोगों को भी अच्छा लगे।" इतना कहकर श्रीरामकृष्ण चुप हो गये।

अत्यन्त उत्सुकता में भरकर नरेन्द्र ने पूछा, "इस पर माँ ने क्या कहा?" "क्या बताऊँ रे!"—श्रीरामकृष्ण बोले, "माँ ने तुम सबकी ओर इशारा करते हुए कहा कि क्या तू इतने मुँहों से नहीं खाता, जो खाने के लिए तुझे अपना अलग से मुँह चाहिए! सुनकर तो मैं चुप हो गया, मुझे बड़ी लज्जा हो आयी कि माँ से मैंने यह क्या कह दिया। बोल तो मैं कहता भी क्या?"

नरेन्द्रनाथ अवाक् रह गये। अहं का ऐसा लोप और उस लोप को प्रकट करने का यह अनूठा ढंग नरेन्द्र ने न कहीं और देखा था, न सुना था। श्रीरामकृष्ण यह

अनुभव कर रहे हैं कि वे सभी के मुँह से खा रहे हैं, पर इस विश्वात्मभाव को प्रकट करने में भी संकोच का अनुभव करते हैं। वे यह नहीं कह पाते कि मैं तुम लोगों के मुँह से खा रहा हूँ। उन्होंने अद्वैत वेदान्त को अपूर्व विनय से संयुक्त कर दिया। अद्वैतानुभूति को जब हम 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'सोऽहं' कहकर प्रकट करते हैं, तो वहाँ भी 'अहं' की बू बनी ही रहती है, पर श्रीरामकृष्ण की इस अद्वैतानुभूति में अहं की नामगन्ध भी नहीं है। इसी को भक्ति का अद्वैत कहा गया है, जो योगयुक्त मुनि का लक्ष्य है।

भगवान् कृष्ण की बात सुनकर अर्जुन के मन में जिज्ञासा उठी कि अच्छा, ये सांख्यमार्गी और योगमार्गी किन विशिष्ट साधनापद्धतियों का अवलम्बन करते होंगे? उसकी जिज्ञासा को शान्त करते हुए श्रीभगवान् श्लोक ८ एवं ९ में सांख्यमार्गी की साधनापद्धति का वर्णन करते हैं तथा श्लोक १० और ११ में योगमार्गी की साधनापद्धति का। कहते हैं—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ।।५/८
प्रलपन्-विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।५/९।।

तत्त्ववित् (तत्त्व को जाननेवाला) युक्तः (योगी) पश्यन् (देखता हुआ) शृण्वन् (सुनता हुआ) स्पृशन् (स्पर्श करता हुआ) जिघ्रन् (सूंघता हुआ) अश्नन् (भोजन करता हुआ) गच्छन् (गमन करता हुआ) स्वपन् (सोता हुआ) श्वसन् (श्वास लेता हुआ) प्रलपन् (बोलता हुआ) विसृजन् (त्यागता हुआ) गृह्णन् (ग्रहण करता हुआ) उन्मिषन् (आँखों को खोलता हुआ) निमिषन्

(पलक बन्द करता हुआ) अपि (भी) इन्द्रियाणि (सब इन्द्रियाँ) इन्द्रियार्थेषु (अपने-अपने विषयों में) वर्तन्ते (वरत रही हैं) इति (ऐसा) धारयन (समझता हुआ) इति (ऐसा) मन्येत (माने) किंचित् (कुछ भी) न (नहीं) एव (ही) करोमि (करता हूँ)।

"तत्त्व को जाननेवाला योगी (सांख्ययोगी) देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर ऐसा माने कि मैं कुछ भी करता ही नहीं हूं।"

यह सांख्ययोगी अर्थात् ज्ञानयोगी की साधनापद्धति है। वह 'तत्त्ववित्' भी है और 'युक्त' भी। उसने श्रवण-मनन से तत्त्व को जान लिया है कि ब्रह्म ही सत्य है और यह जगत् क्षणभंगुर एवं अनित्य है तथा मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है। नित्यानित्य वस्तु का विवेक करते हुए उसने नित्य को जानकर उसके साथ अपने को युक्त कर लिया है और अनित्य का त्याग कर दिया है। ऐसा सांख्ययोगी शरीर की ऊपर में कही गयी सारी क्रियाएँ करेगा सही, पर उसका भाव यह रहेगा कि इन्द्रियाँ ही अपने अपने विषयों में बरत रही हैं। उन क्रियाओं के प्रति उसका साक्षीभाव रहेगा।

यहाँ पर शरीर से होनेवाली सब प्रकार की क्रियाओं का वर्णन किया गया है। 'पश्यन्', 'शृण्वन्', 'स्पृशन्', 'जिघ्रन्' और 'अश्नन्' इन पाँच पदों से पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सारी क्रियाएँ वर्णित हुई हैं। 'गच्छन्', 'गृह्णन्' और 'प्रलपन्' से पैर, हाथ और वाणी की तथा 'विसृजन्' से उपस्थ एवं गुदा—ऐसी पाँच कर्मेन्द्रियों की क्रियाएँ

बतलायी गयी हैं। 'श्वसन्' पद प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान इन पाँचों प्राणों की क्रियाओं का बोधक है। 'उन्मिषन्' और 'निमिषन्' पद कूर्म आदि पाँचों वायु-भेदों की क्रियाओं के बोधक हैं और 'स्वपन्' पद अन्तः-करण की क्रियाओं का बोधक है। इस प्रकार यहाँ पर सम्पूर्ण इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण की क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। व्यक्ति के द्वारा होनेवाले समस्त प्रकार के कर्म इन क्रियाओं के अन्तर्गत आ जाते हैं। ज्ञानयोगी का भाव यह रहेगा कि उसके जीवन में शरीर-निर्वाह के लिए खान-पान आदि तथा लोकोपकार के लिए प्रवचन, भाषण, उपदेश, लिखना, पढ़ना, सुनना, सोचना आदि जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब प्रकृति के द्वारा प्रेरित अपने आप होती हैं---इनमें मेरा कोई कर्तृत्व नहीं है, इन्द्रियाँ ही अपने अपने अर्थों में बरतती हैं।

यहाँ पर एक शंका हो सकती है। यदि ऐसी बात है तब तो एक पाखण्डी भी काषाय वस्त्र धारण कर व्यभिचार आदि बुरी क्रियाएँ करता हुआ यह दलील दे सकता है कि वह तो मात्र उन क्रियाओं का साक्षी है और अपने को उन बुरी कहलानेवाली क्रियाओं का कर्ता नहीं मानता। श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में एक ऐसा ही प्रसंग आता है। एक पंजाब की ओर का साधु आकर दक्षिणेश्वर में ठहरा था। अपने को वह वेदान्ती बतलाता, पर दुष्कर्मी था। श्रीरामकृष्ण के कानों में यह बात पहुँची। एक दिन जब वह साधु उनसे मिलने आया, तो उन्होंने भर्त्सना के स्वर में कहा, "तुम कैसे वेदान्ती हो जी! दुष्कर्म भी करते हो और वेदान्ती

भी बनते हो!" इस पर वह साधु बोला, "अजी महाराज, अभी मैं आपको वेदान्त समझाये देता हूँ। जब सारी दुनिया ही मिथ्या-माया है, तब मैं जो कुछ करता हूँ वही क्या सत्य है? वह भी तो मिथ्या है!" श्रीरामकृष्ण रुष्ट हो बोले, "तुम्हारे ऐसे वेदान्त पर मैं थूकता हूँ!"

तात्पर्य यह कि पाखण्ड तो हर सिद्धान्त की आड़ में किया जा सकता है। यहाँ पर प्रसंग पाखण्डियों का नहीं है, यह तो निष्ठावान् साधकों को लेकर बात कही जा रही है। ज्ञानयोग के साधक को विवेक, वैराग्य, शम - दम - तितिक्षा - उपरति - समाधान् - श्रद्धारूप षट्क-सम्पत्ति और मुमुक्षा—इस साधनचतुष्टय को अपने जीवन में अंगीकार करके चलना होता है, जिसके फल-स्वरूप उसके अन्तःकरण के काम-क्रोध-अहंकारादि दोष कम होते जाते हैं। अतएव उसके द्वारा दुराचरण सम्भव नहीं है।

अब आगे के दो श्लोकों में बतलाते हैं कि कर्म-योगी की साधना किस प्रकार की होती है। कहते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।५/१०।।

यः (जो) कर्माणि (कर्मों को) ब्रह्मणि (परमात्मा में) आधाय (अर्पण करके) संगं (आसक्ति को) त्यक्त्वा (त्यागकर) करोति (करता है) सः (वह) अम्भसा (जल से) पद्मपत्रम् (कमल के पत्ते के) इव (समान) पापेन (पाप से) न (नहीं) लिप्यते (लिपायमान होता)।

"जो (पुरुष) (सब) कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके (और) आसक्ति को त्यागकर (कर्म) करता है, वह जल से कमल

के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।"

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।५/११।।

अपि (इसलिए) योगिनः (कर्मयोगी) केवलैः (केवल) इन्द्रियैः (इन्द्रिय) मनसा (मन) बुद्धया (बुद्धि) कायेन (शरीर द्वारा) संगं (आसक्ति को) त्यक्त्वा (त्यागकर) आत्मशुद्धये (अन्तःकरण की शुद्धि के लिए) कर्म (कर्म) कुर्वन्ति (करते हैं)।

"अतएव (निष्काम) कर्मयोगी आसक्ति को त्यागकर केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि (और) शरीर द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।"

१०वें श्लोक में पाप से अलिप्त रहने के दो कारण बतलाते हैं—(१) कर्मों का परमात्मा में अर्पण और (२) आसक्ति का त्याग। कर्मों के अर्पण का अर्थ फलों का भी अर्पण होता है। अर्थात् कर्मयोगी अपने लिए फल नहीं लेना चाहता, अपितु समाज के लिए समर्पित कर देता है। जैसे किसी ने किसी संस्था को कुछ शेयर समर्पित किये। इसका अर्थ यह कि शेयरों के साथ वह उनसे होनेवाला लाभ भी संस्था को दे देता है। दूसरे शब्दों में, वह शेयरों का भोक्तापन त्याग देता है। इसी प्रकार कर्मयोगी जब ईश्वर को अर्पित करते हुए कर्म करता है, तब वह कर्म के फल का भोक्तापन त्याग देता है।

पूछा जा सकता है कि क्या कोई व्यक्ति दुष्कर्म भी ईश्वर को समर्पित करता हुआ कर सकता है? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। एक तो यह कि कर्मयोगी अकर्म और विकर्म को त्यागकर कर्म करता है, अतएव कर्मयोगी द्वारा दुष्कर्म का प्रश्न ही नहीं है।

इस पर हम अपने ६२वें गीताप्रवचन में विस्तार से विचार कर चुके हैं। दूसरे, दुष्कर्म करनेवाला व्यक्ति अध्यात्म की ओर क्यों जाएगा? ऐसा पुरुष ही शास्त्र के उपदेशों को सुनता है, जो दुष्कर्मों का त्याग करना चाहता है।

फिर कहा गया कि वह आसक्ति त्यागकर (संगं त्यक्त्वा) कर्म करता है। सामान्यतः देखा जाता है कि जब व्यक्ति कुछ छोड़ता है, तो उस त्याग के प्रति भी उसकी आसक्ति हो जाती है। श्लोक में ध्वनित हुआ है कि कर्मयोगी भोक्तापन का त्याग करता है। अब कहते हैं कि वह भोक्तापन के त्याग की आसक्ति का भी त्याग करता है। अपने कर्म का कोई फल यदि मैं समाज के लिए अर्पित करता हूँ, तो बार-बार मैं लोगों को बताना चाहता हूँ कि मैंने समाज के लिए क्या किया। यदि मैं तीर्थ में जाकर कोई बद-ऐब छोड़ता हूँ, या कहीं कुछ दान देता हूँ, तो उसका ढिंढोरा पीटता हूँ। यही अपने त्याग के प्रति आसक्ति है। इसे भी कर्मयोगी त्याग देता है। यह आसक्ति ही हमें रागद्वेषात्मक कर्म से चिपकाती है और यह रागद्वेषात्मक कर्म ही पाप है। आसक्ति के अभाव में कर्मयोगी ऐसे पाप से फिर लिप्त नहीं होता।

११वें श्लोक में कहा कि कर्मयोगी कर्म 'क्यों' करता है। पूर्व श्लोक में बतलाया कि वह कर्म 'किस प्रकार' करता है। यहाँ पर बतला रहे हैं कि उसका कर्म करने का उद्देश्य क्या है?—वह है अन्तःकरण की शुद्धि। यहाँ पर यह भी कहा कि वह केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर के द्वारा कर्म करता है। 'केवल' शब्द भले ही इन्द्रियों के विशेषण (केवलैः इन्द्रियैः) के

रूप में प्रयुक्त हुआ है, फिर भी उसे मन, बुद्धि और शरीर सबका विशेषण मानना चाहिए; अर्थात् वह केवल इन्द्रियों से, केवल मन से, केवल बुद्धि से और केवल शरीर से कर्म करता है। तात्पर्य यह कि वह अहंकार-रहित हो कर्म करता है। सामान्य मनुष्य के कर्म में तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के साथ अहंकार की प्रधानता होती है। कर्मयोगी इस अहंकार का त्याग कर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा कर्म करता है। उसने अहंकार को ईश्वर-समर्पित (ब्रह्मणि आधाय) कर दिया है।

यहाँ पर भी 'संगं त्यक्त्वा' (आसक्ति को त्यागकर) ये शब्द आये हैं। पूर्व श्लोक में भी ठीक ये ही शब्द आये थे। पूर्व में इनका अर्थ हमने किया है 'फल के प्रति आसक्ति को त्यागकर'। यहाँ पर इसका अर्थ है 'कर्म के प्रति आसक्ति को त्यागकर'। फलासक्ति के ही समान कर्मासक्ति भी होती है। उदाहरणार्थ, मैं समाज की सेवा के लिए एक संस्था बनाता हूँ। अपने सेवारूप समस्त कर्मों का फल समाज के हित के लिए समर्पित कर देता हूँ। यह हुआ 'फल की आसक्ति का त्याग'। पर हो सकता है कि मैं संस्था के प्रति आसक्त हो जाऊँ। यदि मुझे समाज के हित ही में संस्था से हटने की आवश्यकता पड़े, तो मैं हट नहीं पाता। यह कर्मासक्ति है। कर्म-योगी इस आसक्ति का भी त्याग कर देता है। हम फला-सक्ति और कर्मासक्ति की चर्चा पूर्व में भी कर आये हैं। प्रसंग के कारण पुनः संक्षेप में इनका यहाँ उल्लेख किया गया है।

तो, अहंकार और कर्मासक्ति का त्याग कर कर्म-

योगी आत्मशुद्धि के लिए कर्म करता है। फलस्वरूप वह नैष्ठिक शान्ति का अधिकारी बनता है। यही आगे के श्लोक में बतलाया गया है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।५/१२।।

युक्तः (योगी) कर्मफलं (कर्मफल को) त्यक्त्वा (त्यागकर) नैष्ठिकीं (आत्यन्तिक) शान्तिम् (शान्ति को) आप्नोति (पा लेता है) अयुक्तः (अयोगी, सकाम व्यक्ति) फले (फल में) सक्तः (आसक्त हुआ) कामकारेण (कामना से) निबध्यते (बँधता है)।

"कर्मयोगी कर्मफल को त्यागकर आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त हो जाता है, (जबकि) अयुक्त (सकाम व्यक्ति) फल में आसक्त हो (अपनी) कामना से बँध जाता है।"

यहाँ बतला रहे हैं कि कर्मयोगी मात्र अन्तःकरण की शुद्धि ही नहीं प्राप्त करता, अपितु उस आत्यन्तिक शान्ति को भी पा लेता है, जिसका स्वरूप ही भगवान् का है, अर्थात् ईश्वर के साक्षात्कार से मिलनेवाली अचल शान्ति का वह अधिकारी बन जाता है। नैष्ठिकी शान्ति वह है, जिसमें विचलन नहीं है।

श्लोक के उत्तरार्ध में अयोगी की—सकाम पुरुष की—दशा प्रदर्शित करते हैं, जिससे वैषम्य के माध्यम से कर्मयोगी की विशिष्टता और भी चमक उठे। सकाम व्यक्ति अपनी कामना के कारण कर्मफल के प्रति आसक्त होता है, इसलिए संसार-बन्धन से बँध जाता है।

'अयुक्त' शब्द के आलसी, प्रमादी या निठल्ला अर्थ भी होते हैं, पर यहाँ पर 'फले सक्तः' कहा है, इसका तात्पर्य यह कि अयुक्त कर्महीन नहीं है, बल्कि कर्म करता है। अतएव उसका अर्थ 'सकाम व्यक्ति'

किया गया है।

पूर्व श्लोकों में 'कर्मयोगी' किस स्थिति को प्राप्त करता है यह बतलाया। फिर यह भी बतलाया कि 'अयुक्त व्यक्ति' की क्या गति होती है। पर यह नहीं बतलाया कि 'सांख्ययोगी' किस अवस्था का लाभ करता है। अगले श्लोक में इसी को बतलाते हुए कहते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥५/१३॥

वशी (अपने को वश में रखनेवाला) देही (पुरुष) न (नहीं) कुर्वन् (करता हुआ) न (नहीं) कारयन् (करवाता हुआ) एव (ही) सर्वकर्माणि (सब कर्मों को) मनसा (मन के द्वारा) संन्यस्य (त्यागकर) नवद्वारे (नौ दरवाजोंवाले) पुरे (पुर में) सुखम् (सुखपूर्वक) आस्ते (स्थित रहता है)।

"अपने (अन्तःकरण) को वश में रखनेवाला (अपने को) देही (माननेवाला सांख्ययोगी) न तो करता हुआ (और) न करवाता हुआ ही सब कर्मों को मन से त्यागकर नौ द्वारवाले (शरीररूप) घर में आनन्दपूर्वक (सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में) स्थित रहता है।"

यहाँ सांख्ययोगी की मानसिक दशा का वर्णन हुआ है। वह 'वशी' होता है—अन्तःकरण उसके ताबे में रहता है। देह-मन-इन्द्रियाँ उसके संकेत से काम करते हैं। वह अपने को देह से भिन्न, देहादि उपकरणों का स्वामी 'देही' मानता है। जैसे यन्त्र को चलानेवाला मनुष्य अपने को यन्त्र से भिन्न और उसका स्वामी मानता है, उसी प्रकार। वह सब कर्मों का मन से त्याग कर देता है। शरीर से विभिन्न आवश्यक क्रियाएँ तो होंगी ही, पर उसका मन उन क्रियाओं से चिपका नहीं

रहेगा। शरीर की क्रियाओं के प्रति उसका साक्षीभाव होगा। फलस्वरूप वह अपने को किसी कर्म का कर्ता नहीं मानता है। 'अहंता' से ही कर्तापन उपजता है और वह उसमें है नहीं। फिर उसमें 'ममता' भी नहीं है। ममत्व व्यक्ति से दूसरे के लिए कर्म करवाता है। सांख्य-योगी में 'ममत्व' का अभाव होने से वह 'कारयिता' (करानेवाला) भी नहीं बनता। वह तो नौ दरवाजों-वाले इस शरीररूप पुर में—घर में—आनन्दपूर्वक अपने स्वरूप में स्थित होकर रहता है। इस शरीर के नौ दरवाजे हैं—ऊपर के ७ (२ आँख, २ नाक, २ कान, १ मुँह) और नीचे के २ (गुदा और उपस्थ)। यदि घर में एक ही दरवाजा हो, तो उसी में रहनेवाले को कितना डर लगता है। यह तो नौ दरवाजेवाला घर है, जिसमें सांख्ययोगी सुखपूर्वक रहता है। कबीरदासजी कहते हैं—

नवद्वार का पींजरा तामे पंछी पौन।
रहने का आश्चर्य है, गये अचम्भा कौन।।

—इस जीवरूपी पंछी को निकलने के लिए एक ही दरवाजा पर्याप्त है। नौ-नौ दरवाजेवाले घर में इस पंछी का रहना ही अचरज की बात है, उसमें से उड़ना नहीं। अतएव ऐसे नौ दरवाजोंवाले घर में निर्भीक, निडर व्यक्ति ही आनन्दपूर्वक और निश्चिन्त होकर रह सकता है। सांख्ययोगी अपनी आत्मस्वरूपता के ज्ञान से निर्भय हो जाता है। भय तो द्वितीय का बोध होने से होता है—'द्वितीयाद्वै भयं भवति', पर जो उस अखण्ड एकरस सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित हो गया, उसे फिर क्या भय ?

○

माँ के सान्निध्य में (७)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर की नारायणपुर शाखा के संचालक हैं।—स०)

उद्‌बोधन, ठाकुरघर : २९-१०-१९१०

सबेरे माँ के तख्त के दाहिने हिस्से में बैठकर उनसे बातचीत कर रहा था। ठाकुर की बात निकली। माँ कहने लगीं, "पुरी में पहले दिन जाकर ही मैंने सबेरे घी के टिन को दीवाल से लगाकर उस पर ठाकुर के फोटो को रखकर उसकी पूजा की और फिर जल्दी से जगन्नाथजी के दर्शन को गयी। घर के दरवाजे सब बन्द थे। आने पर देखती हूँ कि ठाकुर का फोटो टिन के नीचे पड़ा है। सबने आकर देखा। सभी सोचने लगे कि चोर घुसा होगा। पर घर का कोई भी सामान इधर-उधर नहीं हुआ था। बाद में देखती हूँ टिन के ऊपर बड़े लाल चींटे चढ़े हुए हैं, घी का टिन था न—वे चींटे ही ठाकुर के फोटो पर चढ़ गये थे इसीलिए ठाकुर उतरकर बैठ गये थे।

मैं—क्या फोटो में ठाकुर हैं?

माँ—क्यों नहीं? छाया और काया समान है।*

---

* इसीलिए शायद कहा जाता है कि गुरुजनों की छाया को लाँघते नहीं। जयरामवाटी में मैं एक दिन स्नान करके आ रहा था। माँ भी बाड़ुज्ये तालाब से नहाकर आ रही थीं। धूप के कारण जिस ओर माँ की छाया पड रही थी, मैं उसी ओर से माँ के साथ-साथ चल रहा था। यह देख माँ ने रुककर मुझसे कहा, "तुम दूसरी ओर चले आओ।" पहले मैं समझ नहीं पाया। माँ को दो बार रुकते देख फिर ख्याल हुआ।

चित्र तो उनकी छाया है।

मैं—क्या वे सभी चित्रों में हैं?

माँ—हाँ, पुकारते-पुकारते उनका आविर्भाव होता है। वह स्थान एक पीठ हो जाता है। जैसे इस स्थान (उद्बोधन के उत्तर का मैदान दिखाकर) में यदि किसी ने उनकी पूजा की तो यह उनका एक स्थान होगा।

मैं—वह इसलिए प्रतीत होता होगा क्योंकि इन सब स्थानों के साथ अच्छी स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

माँ—वैसी बात नहीं, उस स्थान पर उनकी दृष्टि रहती है।

मैं—अच्छा, ठाकुर को तुम यह सब जो भोग देती हो, क्या उसे ठाकुर खाते हैं?

माँ—हाँ, खाते हैं।

मैं—कहाँ, उसका कोई चिह्न क्यों नहीं देख पाता?

माँ—उनकी आँखों से एक ज्योति निकलकर सब वस्तुओं को चूसकर देखती है। उनके अमृतस्पर्श से वह वस्तु फिर से पूरी हो जाती है, इसलिए वह कम नहीं होती।

"भगवान् वैकुण्ठ से उतरकर जहाँ उनका भक्त पुकारता है वहाँ पहुँच जाते हैं। कोजागरी (शरद्) पूर्णिमा के दिन लक्ष्मी वैकुण्ठ से पृथ्वी पर आती हैं और जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि रहती है वहाँ जाती हैं तथा पूजा ग्रहण करती हैं। मेरी सास ने कामारपुकुर में चौदह-पन्द्रह साल की एक गोरी लड़की को देखा था, जिसके कानों में शंख के कुण्डल और हाथों में हीरे (डायमण्ड कट) के कंगन थे। उन्होंने बकुल वृक्ष के नीचे (ठाकुर के घर के सामने) खड़े हो उससे बातचीत

की थी। सास ने पूछा, 'बेटी, तुम कौन हो?' लक्ष्मी ने कहा, 'मैं यहीं आ रही थी।' सास बोली, 'मेरे लड़के (रामकुमार) को देखा है? पूजा करने गया है, रात हो गयी, अभी तक नहीं लौटा।' लक्ष्मी ने कहा, 'हाँ, वे आ रहे हैं, दान-दक्षिणा बाँध ली है। मैं अभी वहीं से ही तुम्हारे घर आ रही हूँ।' मेरी सास ने कहा, 'नहीं बेटी, घर पर कोई नहीं है, अभी मत आओ।' इस प्रकार बार बार मना करने पर देवी ने कहा, 'ठीक है, मेरी ऐसे ही दृष्टि रहेगी', और वह अन्तर्धान हो गयी। देख तो रहे ही हो उन लोगों की अवस्था कभी भी उतनी अच्छी नहीं हुई। मोटा चावल-कपड़ा मिल जा रहा है।

"मेरी सास ने देखा था कि लक्ष्मी लाहा लोगों के घर से निकल उनके धान की मड़ई की ओर से घूमकर आयी थी। मेरे जेठ ने आने पर सब सुनकर कहा था, 'माँ, तुम जान नहीं पायीं, स्वयं साक्षात् लक्ष्मी आयी थीं। आज कोजागरी पूर्णिमा है न!' वे ज्योतिष जानते थे, खड़िया द्वारा उन्होंने पता लगाया था।

"उन्हें भला भोजन की क्या आवश्यकता है? वे तो भक्त के सन्तोष के लिए आते हैं और भोजन करते हैं। प्रसाद को खाने से चित्त की शुद्धि होती है। अन्न ऐसे ही खाने से मन मलिन होता है।"*

* किसी भक्त ने माँ के पास से गेरुआ वस्त्र लिया था। वह कई वर्षों तक अस्वस्थ रहा। उस समय वह वायु-परिवर्तन हेतु विभिन्न स्थानों में था। बाद में वह लौटकर अपने आश्रम जाने के बदले अपने घर चला गया और एक दिन जयरामवाटी जाकर माँ को गेरुआ वस्त्र वापस दे आया। उस अवसर पर माँ ने कहा था, 'देखो तो ! विषयी लोगों का अन्न खाकर उसकी बुद्धि मलिन हो गयी।'

मैं—क्या ठाकुर सचमुच में खाते हैं?

माँ—हाँ, क्या मैं देखती नहीं कि ठाकुर ने खाया या नहीं? ठाकुर खाने के लिए बैठते हैं तथा खाते हैं।

मैं—तुम देखती हो?

माँ—हाँ, मैं देखती हूँ, किसी का उन्होंने खाया और किसी की ओर दृष्टिपात मात्र किया। तुमको भी क्या सब समय सभी चीज खाना अच्छा लगता है? अथवा सभी की वस्तु खा सकते हो? बस, ऐसा ही समझो। जिसका जैसा भक्ति-भाव होता है। भक्ति ही मुख्य वस्तु है।

मैं—भक्ति कैसे होगी? अपने लड़के को भी यदि दूसरा पालता-पोसता है तो वह अपनी माँ को माँ के रूप में नहीं जानता।

माँ—हाँ, इसीलिए तो उनकी कृपा होनी चाहिए। कृपा की पात्रता होनी चाहिए।

मैं—कृपा में यह पात्र-अपात्र क्यों? कृपा तो सबके लिए समान रूप से है।

माँ—नदी के तट पर बैठकर पुकारना पड़ता है, समय होने पर वे पार करेंगे।

मैं—समय पर तो सब ही होता है, उसमें उनकी कृपा की कौन-सी बात है?

माँ—तो क्या मछली पकड़ने के लिए बंसी डालकर बैठना नहीं पड़ता?

मैं—जब वे अपने ही व्यक्ति हैं तो फिर बैठने की आवश्यकता क्यों है?

माँ—हाँ, यह ठीक है, असमय में भी ऐसा होता है। आजकल लोग असमय में भी आम, कटहल पैदा

कर रहे हैं। भादों के महीने में भी कितना आम हो रहा है।

मैं—हम लोगों की दौड़ क्या यहीं तक है कि जिसने जो चाहा, उसको वह दे बस विदा दे दी? या फिर यह भी कि उन्हें बिल्कुल अपना बनाकर पाया जा सकता है? वे मेरे अपने हैं कि नहीं?

माँ—हाँ, वे अपने हैं। उनसे सदा-सर्वदा का सम्बन्ध है। वे सभी के अपने हैं। जैसा भाव होगा, वैसा ही लाभ होगा।

मैं—भाव तो स्वप्न जैसा है। जैसा विचार किया जाता है, वैसा ही बाद में स्वप्न में दिखता है।

माँ—स्वप्न ही तो है। संसार ही स्वप्नवत् है। यह (जाग्रतावस्था) भी एक स्वप्न है।

मैं—नहीं, यह इतना स्वप्न नहीं है। नहीं तो यह क्षण भर में नष्ट हो जाता। यह तो अनेक जन्मों से बना हुआ है।

माँ—भले हो। पर यह स्वप्न छोड़ और कुछ नहीं। यह जो तुमने रात में स्वप्न देखा, अब वह नहीं है। (वास्तव में पिछली रात मैंने एक आश्चर्यजनक स्वप्न देखा था।) किसान ने स्वप्न देखा था कि वह राजा हुआ है, आठ लड़कों का बाप हुआ है। स्वप्न टूटने पर वह बोला था, 'उन आठ लड़कों के लिए रोऊँ अथवा इस एक लड़के के लिए?'

इस तरह तर्क करने के बाद अन्त में मैंने कहा, "माँ, यह जो सब मैंने कहा उसके लिए मुझे कोई चिन्ता नहीं है। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरे अपने कोई हैं या नहीं?"

माँ—हैं क्यों नहीं, अवश्य हैं।

मैं—ठीक कहती हो?

माँ—हाँ।

मैं—यदि वे मेरे अपने हैं तो उ ा दर्शन पाने के लिए उन्हें पुकारना क्यों होगा ? जो अपना है, वह तो नहीं पुकारने से भी दर्शन देगा। माँ-बाप जैसा करते हैं, वे भी क्या वैसा कर रहे हैं ?

माँ—अवश्य कर रहे हैं, बेटे, वे ही माँ-बाप हुए हैं। वे ही माँ-बाप के रूप से पालन करते हैं। वे ही देखभाल करते हैं। नहीं तो तुम कहाँ थे और कहां आ गये ! उन लोगों ने लालन-पालन किया और अन्त में ेखा कि यह अपना नहीं है। जैसे कौए के घोंसले में क्या कोयल नहीं पलती ?

मैं—ठीक ठीक अपने जन को पाऊँगा या नहीं ?

माँ—पाओगे, पाओगे, तुम सब पाओगे। जो सोचते हो वह सब मिलेगा। स्वामीजी (विवेकानन्द) ने पाया था या नहीं ? स्वामीजी ने जिस प्रकार पाया था तुम वैसा ही पाओगे।

मैं—माँ, देखना जिससे (तुम्हारे प्रति) भय-संकोच न रहे।

माँ—नहीं, संकोच की क्या बात है ! मैंने ही ा मछली पकड़ी है।

मैं—तब तो ठीक है, हम लोग आनन्द मनाएँगे।

माँ—हाँ, जरूर। एक साँचा बनाता है, उससे बहुत सा गढ़ लिया जाता है।

मैं—तुम्हारे बनाने से ही हम लोगों का होगा तुम हमें छोड़कर नहीं जा सकोगी।

माँ—हाँ बेटे, मेरे करने से ही तुम लोगों का होगा

○

(क्रमशः)

Registered with the Registrar of News Paper for India under No. R. N. 7